श्री दशवैकालिक सूत्र

का

हिन्दी अनुवाद

मूल अनुवादक

कविवर्य पंडित मुनिश्री नानचंदजी महाराज के

सुशिष्य

लघुशतावधानी पं. मुनिश्री सौभाग्यचंद्रजी महाराज

वीर संवत् २४६३] मूल्य [illegible] आना [ईस्वी सन् १९३६

[redacted]

श्री हंसराज जिनागम विद्या-प्रचारक फंड समिति .·. .·. ग्रंथ दूसरा

प्रकाशक :—

श्री श्वे. स्थानकवासी जैन कॉन्फरन्स,

१, भांगवाडी, मुंबई २.

प्रथम आवृत्ति *** *** २०००, प्रतियां

ज्ञान पंचमी १९९३

मुद्रक :—

प्रस्तावना, टाइटल
हर्षचंद्र कपुरचंद दोशी,
श्री सुखदेव सहाय जैन कोन्फरन्स प्रीन्टींग, प्रेस,
९, भांगवाडी मुंबई नं. २.

पृष्ठ १ से १९० तक
हरखचंद श्रीभोवनदास
कलापी प्रीन्टींग प्रेस,
झवेरी बझार, मुंबई २.

समर्पण

जिनकी कृपा कटाक्ष से हृदयमें वैराग्यकी उर्मियां प्रवाहित होती हैं, विचारबल जागृत होता है और त्यागी जीवन का अलौकिक आनंद पूर्णरूपसे अनुभव में आता है उन पूज्यपाद गुरुके कर कमलों में इस अनुवाद को अर्पण कर स्वयंको कृतार्थ मानता हूं।

"सौभाग्य"

卐

आमुख

अजमेर अधिवेशन के समय अमरेली निवासी श्रीमान सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्दजीने धार्मिक ज्ञान के प्रचार के लिये और आगमोद्धार के लिये अपनी कोन्फरन्स को १५०००) की रकम अर्पण की थी। इस फंडकी योजना उसी समय 'जैन प्रकाश'में प्रगट हो गई थी।

उस फंडमें से यह द्वितीय पुस्तक प्रकाशित की जाती है। लघुशतावधानी पं. मुनिश्री सौभग्याचन्दजी म. के अपने आगमों के सरल गुजराती भाषामें अनुवाद का प्रकाशन श्री महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद की तरफसे सुचारु रूपसे हो रहा है। प्रथम श्री उत्तराध्ययनजी सूत्र के हिन्दी अनुवाद के आमुख में लिखे अनुसार यह श्री दशवैकालिक सूत्रका हिन्दी अनुवाद श्री हंसराज जिनागम विद्याप्रचारक फंड समितिकी तरफसे प्रकाशित किया जाता है।

इस हिन्दी अनुवाद को भी यथाशक्ति सरल और भाववाही बनानेका प्रयत्न किया गया है। आशा है कि जिस धर्म भावनासे श्री हंसराजभाईने यह योजना की है उसका पूर्ण सदुपयोग होगा।

सेवक

चीमनलाल चकुभाई

सहमन्त्री

श्री. अ. भा. श्वे. स्था. जैन कान्फरेन्स



दानवीर श्रीमान् सेठ हंसराजभाई लक्ष्मीचन्द
अमरेली (काठियावाड)

उपोद्घात

---:o:---

जिस समय श्री उत्तराध्ययन सूत्र की प्रथम आवृत्ति प्रकाशित हुई उसी समय श्री दशवैकालिक सूत्र का भी अनुवाद प्रकाशित करने की इच्छा थी और उसका प्रारंभ भी हो चुका था, परन्तु अनेक अनिवार्य संयोगों के कारण, प्रबळ इच्छा होने पर भी अहमदाबाद में तो पूर्ण न हुई।

अहमदाबाद से ज्यों २ विहार करते हुए आगे बढते गये त्यों २ मार्ग में यथाविकाश उसका तथा 'साधक सहचरी' (जो प्रकाशित हो चुकी है) का काम होता रहा और अंत में इसकी समाप्ति कठोर ग्राम्य में हुई। इस पर से इस ग्रंथ का देरी से प्रकाशित होने का कारण मालूम हो जायगा।

उत्तराध्ययन के समान ही श्री दशवैकालिक का भी विस्तृत प्रचार हो सकेगा या नहीं इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता क्योंकि श्री उत्तराध्ययन सूत्र में तो विविध कथाप्रसंग, सुन्दर ऐतिहासिक घटनाएं, तथा ईषुकारीय, चित्तसंभूतीय, रथनेमीय आदि अनेक चेतनवंत संवादो सामान्य से सामान्य हृदय को भी अपनी तरफ

बलात् आकृष्ट कर लेते हैं और उस में एक अपूर्व रसवृत्ति जागृत कर देती है। दशवैकालिक में न तो ऐसे प्रथम विभाग हैं और न हैं ऐसे रोचक संवाद ही, फिर भी दशवैकालिक में एक ऐसा आकर्षक तत्त्व तो अवश्य है कि जिसकी तरफ जिज्ञासु वाचक आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकते।

आज भारतवर्ष में जितने अंश में आर्थिक समस्या की गुत्थी उलझी हुई है उतनी ही चारित्र विषयक गुत्थी भी उलझी हुई है क्योंकि आर्थिक निर्बलता का मूल कारण यही है इस बात को आज कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। आधुनिक युग में जितना मनुष्य वांचता या विचारता है, यदि उसका शतांश भी आचरणपरिणीत करे तो यह उसके लिये विशेष आवश्यक एवं उपयोगी होगा। वह आवश्यक तत्त्व दशवैकालिक में से मिल सकता है क्योंकि इसमें संयमी-जीवन के कठिन नियमों के साथ २ उनके पालन की प्रेरणा भी मिलती है। इस अपेक्षा से जिज्ञासु वर्ग में जितना आदर उत्तराध्ययन का हुआ है उतना ही आदर दशवैकालिक को भी मिल जायगा यह आशा अनुचित नहीं है।

पद्धति

उत्तराध्ययन के अनुवाद में जो २ बात ध्यान में रखी गई थीं उन्हीं को दशवैकालिक के अनुवाद में भी ध्यान में रखा गया है। मात्र अन्तर इतना ही है कि उत्तराध्ययन की अपेक्षा दशवैकालिक में संपादकीय टिप्पणियां कुछ अधिक हैं और यदि ऐसा न किया गया होता तो संभव है कि मूल गाथा के आशय के स्पष्टीकरण में कठिनता

होती। ऐसा समझ कर ही जहां-तहां आवश्यक टिप्पणियां बढ़ा दी गई हैं।

यद्यपि कुछ विद्वान मात्र भाषादृष्टि से ही मूल के अनुवाद को अपना कार्यक्षेत्र मानते हैं अर्थात् शब्द के बदले शब्द रखा देना ही उनका उद्देश्य रहता है किन्तु हमारी रायमें तो ग्रंथकर्ता का मूल आशय अथवा जिस दृष्टिसे वह कथन किया गया है इस प्रकार की तुलनात्मक विवक्षा का पता जबतक वाचक को पूर्ण स्पष्टता के साथ न हो जाय तबतक अनुवादकर्म अपूर्ण ही समझना चाहिये, इतना ही नहीं, ऐसा अनुवाद अपने उद्देश्य की पूर्ति भी नहीं कर सकता। अनुवादक को चाहिये कि वह शब्दों का ध्यान रखते हुए ग्रंथकार के असली रहस्यों को भी सरल से सरल भाषा में प्रगट करे जिससे प्रत्येक वाचक ग्रंथकार के हृदय को जान सके।

किसी भी भाषा के गद्यानुवाद की अपेक्षा पद्यानुवाद में उक्त वस्तु की तरफ विशेष ध्यान रखना पड़ता है। यद्यपि समर्थ ज्ञानी पुरुषों के कथन में उस न्यूनता की संभावना ही नहीं होती जिसकी पूर्ति की आवश्यकता हो, फिर भी ज्ञानीजनों के वक्तव्य में गाम्भीर्य अवश्य होता है और यदि उस गाम्भीर्य का स्पष्ट अर्थ न समझाया जाय तो वाचक वर्ग की जिज्ञासा बहुधा अतृप्त ही रह जाती है और कभी २ समझफेर हो जाने का भय भी रहता है। ऐसे प्रसंगो में गम्भीर वक्तव्यों के हृदय (आन्तरिक रहस्य) को स्पष्ट एवं रोचक भाषा में व्यक्त करने में यदि अनुवादक अपनी विवेकशक्ति एवं भावना का शुभ उपयोग करे तो वह अप्रासंगिक तो नहीं माना जा सकता।

यद्यपि इस से मैं यह नहीं मानता कि ऐसा करने से जिज्ञासु वर्ग की इच्छा को संपूर्णतः सन्तुष्ट किया जा सकेगा, परंतु ऐसा तो मैं अवश्य जानता हूं कि उनकी विचारणा में संपादकीय टिप्पणियां थोडी बहुत उपयोगी अवश्य होगी और इनसे कम से कम ग्रन्थकार के रहस्य को समझने में समझफेर के लिये कोई स्थान न रहेगा। इस उपयोगिता को उत्तराध्ययन के वाचकों द्वारा जानकर ही मैंने इस पुस्तक में भी उचित प्रसंगो में प्रसंगोचित छोटी बडी टिप्पणियां दी हैं।

संपादकीय टिप्पणियां मूल गाथा के अर्थ से जुदे 'टाइप' में दी गई हैं। इन टिप्पणियों से कोई यह न समझे कि मूल ग्रंथ में अनुवादक की दृष्टिमें इतनी कमी रह गई है अथवा इतना लिखना और भी आवश्यक था; किन्तु वाचक यही समझें कि अनुवादक अपना मात्र अभिप्राय दे रहा है जिससे वाचक को समझने और अपना मत बांधने में यत्किञ्चित मदद मिल सके।

दशवैकालिक सूत्र के वाचकों को इतना निर्देश करने के बाद, अब मैं उसको उन खास आवश्यक ज्ञातव्य बातों की तरफ प्रेरणा करना चाहता हूं जिनको इस पुस्तक को पढ़नेके पहिले पूर्णतः जान लेना परम आवश्यक है। इन बातों को जान लेने से इस ग्रंथ के रहस्य को समझने में बडा सुभीता होगा।

(१) जैनदर्शन की अनेकांतता

जैनदर्शन अनेकांतदर्शन है इसलिये उसमें आये हुए सूत्र बहुधा सापेक्ष (अपेक्षायुक्त) होते हैं। अपेक्षा अर्थात् दृष्टि-

बिंदु । मनुष्य जबतक साधकदशामें रहता है तबतक उसके द्वारा स्खलन, दोष और पतन हो जाना सहज संभाव्य है इसी कारण ऐसे साधकों के संयमीजीवनकी रक्षा के लिये धर्मधुरंधरोंने प्रसंगों का सूक्ष्म अनुवीक्षण करके उनके अनुकूल विधेय (कर्तव्य) एवं निषेधात्मक नियमोपनियमों की रचना की है किन्तु उनमें भी भिन्न २ दृष्टिबिन्दु समाये हुए हैं ।

ऐसे ही नियम वेदधर्म, बौद्धधर्म, तथा इतर धर्मों में भी पाये जाते हैं और साधकदशामें इनकी आवश्यकता भी है इस बात को सभी विद्वान निःसंशय स्वीकार करेंगे ही ।

अब यहां यह प्रश्न हो सकता है कि नियम तो निश्चयात्मक ही होते हैं और होने भी चाहिये; उनमें अनेकांतता अथवा भिन्न भिन्न दृष्टिबिन्दुओं की क्या जरूरत है?

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि जब २ जो २ नियम बनाये गये हैं तब २ उन धर्मसंस्थापकों ने तत्कालीन संघदशा तथा साधकों की परिस्थितियों के बलाबल का विचार करके ही उन नियमोपनियमों की सृष्टि की थी । यद्यपि साधक का ध्येय तो केवल आत्मविकास साधना ही है परन्तु उस विकास को साधने के लिये ऐसे नियमोपनियमों की भी पूर्ण आवश्यकता तो है ही ।

उत्सर्ग अथवा अपवाद

उनमें से जो नियम विकास के बिलकुल समीप के हैं उन में तो किसी प्रकार का अपवाद हो ही नहीं सकता अर्थात्

वे निश्चयात्मक हैं किंतु जो नियमोपनियम मूलगुणों की पुष्टि के लिये ही रचे गये हैं उन में अपवाद् अवश्य हो सकते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में उत्सर्ग तथा अपवाद ये दोनों ही मार्ग हैं।

अपवाद्मार्ग की आवश्यकता

आज लोकमानस का झुकाव किधर है, समाज की आज क्या परिस्थिति है, मैं किस प्रदेश में खड़ा हूं, आदि समस्त परिस्थितियों का विचार कर के जो नियम बाधक हों उनका विवेकपूर्वक निराकरण कर के आत्मविकास का ध्येय न भूलने का दृष्टिबिंदु निरन्तर रखते हुए अपवादमार्ग का पालन करना यही अनेकान्तवाद का प्रयोजन है। ऐसे अनिवार्य संयोगो में ही अपवाद मार्ग की आपत्ति होती है और इन्हीं में उसकी उत्पत्ति हो सकती है।

जैनदर्शन की विकासश्रेणी

जैनदर्शन का विकास दो विभागो में विभक्त है: (१) गृहस्थ जीवन में रहते हुए विकास करनेवाला गृहस्थ साधक, और (२) त्यागाश्रमी साधक; इन दोनों वर्गों का आदर्श तो एक ही किन्तु उन दोनों के विकास साधने की गति में जितना तारतम्य है उतना ही तारतम्य उन दोनों साधकों के साधनों में भी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये सब विकास के साधन हैं; उनके पालन में गृहस्थ साधक के लिये मर्यादा रक्खी गई है क्योंकि उसको गृहस्थ धर्म को निभाते हुए साथ ही साथ आत्मधर्म में भी आगे बढना होता है और इसी कारण सब व्रतों में उनके लिये उतनी मर्यादा रखी गई है जितनी उस

जीवन में सुसाध्य हो सके; किन्तु श्रमणसाधकों को तो उन गुणों का संपूर्ण पालन करना होता है। इसलिये गृहस्थ साधक के व्रतों को 'अणुव्रत' और श्रमण के व्रतों को 'महाव्रत' कहते हैं इसी प्रकार गृहस्थसाधिका (श्राविका) तथा साध्वी के अन्तर के विषय में भी जानना चाहिये।

यह संपूर्ण सूत्र श्रमणसाधक को लक्ष्य करके कहा गया है इसलिये इसमें श्रमणजीवन संबंधी घटनाओं का विशेष प्रमाण में निर्देश हो यह स्वाभाविक ही है। किन्तु इस संस्कृति के साथ २ गृहस्थसाधक का संबंध सुईदोरा जैसा अति निकट का है, इसका उल्लेख उपरोक्त पेरेग्राफ में हो चुका है, इस दृष्टि से यह ग्रंथ श्रावकों के लिये भी अति उपयोगी है।

यहां पर श्रमणजीवन संबंधी कुछ आवश्यक प्रश्नों पर विचार करना अनुचित न होगा। उनमें उत्सर्ग तथा अपवाद मार्ग को स्थान है या नहीं; और है तो कहांतक और उनका हेतु क्या है? आदि पर विचार करें।

संयमीजीवन में अहिंसा का मन, वचन और काय से संपूर्ण पालन करने के लिये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति इत्यादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियों का (जबतक वे सजीव हों तबतक उनका) उपयोग करने का संपूर्ण निषेध किया गया है परन्तु यह निषेध संयम में उलटा बाधक न हो जाय इसके लिये उसी अध्ययन में उसका अपवाद भी साथ ही साथमें दिया है क्योंकि संयमी साधु कहीं काठका पुतला तो है नहीं, वह भी देहधारी मनुष्य है, उसे भी खाना, पीना, सोना, चलना आदि

क्रियाएं करनी पड़ती हैं। इन आवश्यक क्रियाओं में जहां २ अनिवार्य हिंसाप्रसंग आ जाते हैं वहां २ अपवाद मार्ग भी हैं ही जैसे:—

(१) चलने में वायुकयिक जीवों की हिंसा होती है किन्तु इस पाप की भी अपेक्षा साधु के आलस्य की वृद्धि होना संयम के लिये और भी अधिक हानिकर है, इसी लिये शास्त्र मे कहा है कि "उपयोगपूर्वक उन क्रियाओं को करे तो पापकर्मका बंधन नहीं होता है"। अर्थात् 'पापक्रिया' की भी अपेक्षा 'उपयोगहीनता' को अधिक पापरूप माना है। इस तरह प्रकारान्तर से 'उपयोग' का महत्त्व बताकर साधु को वह सतर्कता रखने का निर्देश किया है जिस सतर्कता के कारण पापरूप एक भी क्रिया—भले ही वह मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक हो—कभी हो ही नहीं सकती। साथ ही साथ, सतर्कता का निर्देश करके ग्रंथकार ने एक बहुत ही सूक्ष्म बात का, जो जैनधर्म की एक खास विशिष्टता है उसकी तरफ भी वाचक का ध्यान आकृष्ट किया है। वह यह बात साधक के मन पर ठसा देना चाहते हैं कि 'कोई अमुक क्रिया स्वयमेव पापरूप नहीं है, पाप यदि कुछ है तो वह है आत्मा की उपयोगहीनता। सतर्क आत्मा कोई भी क्रिया क्यों न करे, उसे पापका बंध नहीं होता और उपयोगरहित आत्मा कुछ भी क्यों न करे फिर भी वह पाप का भागी है क्योंकि उसे खबर ही नहीं है कि वह क्या कर रही है ऐसी आत्मा भूल में पाप ही कर सकती है। जैनधर्म में 'उपयोग' का महत्त्व इसी दृष्टि से है और वह बड़ा ही विलक्षण है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकारने इस ग्रन्थ में स्पष्ट कह दिया है कि 'उपयोग सहित

आत्मा ही निष्पाप है और उपयोगहीन आत्मा ही पापपूर्ण है।' अर्थात् पाप एवं पुण्य इन दोनों के कारणों को खोजने के लिये बाहर हट जाने की जरूरत नहीं है, वे दोनों कारण स्वय आत्मा में ही मौजूद हैं। इस प्रकार यह आत्मा ही स्वयं अपने पापपुण्यों का कर्ता एवं भोक्ता है; न कोई इसे कुछ लेता-देता है और न यह किसी को कुछ देता-लेता है इत्यादि प्रकार से ज्यों २ गहरा विचार करते जाते हैं त्यों २ नये २ आत्मानुभव स्वयं आते जाते हैं और यही इस ग्रन्थ की एक विशिष्टता है कि ग्रन्थकारने तत्त्व का बाह्य विस्तृत स्वरूप न कह कर उसको आत्मा या कर्म का ही वर्णन किया है उसके ऊपर विशद विचार श्रेणी फैलाने का काम उसने विचारक वाचकों पर ही छोड दिया है।

(२) भोजनपान ग्रहण करने में भी सचित्त खानेका अपवाद नहीं है क्योंकि निर्जीव पानी एवं आहार की प्राप्ति दुःशक्य भले ही हो किन्तु वह अलभ्य तो अवश्य नहीं है। इसी लिये त्यागी के लये सचित्त आहारपनी को छूने तक का भी सर्वथा निषेध किया गया है किन्तु भिक्षा के लिये जाते समय रास्ते में यदि नदीनाला आ जाय तो क्या करे? उस परिस्थिति में कहा गया है कि साधु, यदि दूसरा और कोई मार्ग न हो तो, उनमें से जाकर पार हो जाय और भिक्षा लेकर लौट आने पर तत्क्षण ही प्रायश्चित लेकर उस पापसे निवृत्त हो। ध्यान देने की बात यह है कि उस परिस्थिति में चलने का निषेध नहीं किया क्योंकि वैसी छूट देने में ही संयम का संरक्षण है। पृथ्वी पर जगह जगह वि र कर संयमधर्म का प्रचार

---

* देखो दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन ४।

करने का गंभीर एवं समीचीन उद्देश्य उसी में छिपा हुआ है। साधक विचरेगा नहीं तो आत्मधर्म का उपदेश कौन देगा? भूली हुई आत्माओं को सुमार्ग पर कौन लगायेगा?

(३) बरसाद पड़ते समय आहार पानी के लिये बाहर जाने का निषेध किया गया है किन्तु वहां भी मलविसर्जन आदि कारणों के लिये छूट दी है क्योंकि ये क्रियाएं अनिवार्य हैं; दूसरे, उनको रोकने से संयम में ही बाधा उत्पन्न होने का डर है।

(४) गृहस्थ के घर में साधु को न उतरने की जैन शास्त्रों की कड़ी आज्ञा है किन्तु दूसरी तरफ एकाद दिनके लिये अनिवार्य प्रसंग आने पर रहने की छूट भी दी है और उस समय में साधु को किस प्रकार अपने धर्मकी संभाल करनी चाहिये उसका वर्णन भी किया है। ध्यानमें रखने की बात यह है कि उक्त विचार अपवाद मार्ग है, न कि विधेय मार्ग। विधेय मार्ग तो एक ही है और वह यह है कि साधु को 'कनक एवं कामिनी के संग से सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। इसमें श्रमणसाधक के लिये लेशमात्र भी अपवाद अथवा छूट नहीं दी गई, क्योंकि अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह ये दोनों बातें संयम की बाधक एवं आत्मा की प्रत्यक्ष रूपसे घातक हैं। इसी प्रकार संयमी-जीवन को बाधक अन्य समस्त क्रियाओं एवं पदार्थों का सख्त निषेध किया गया है। सारांश यह है कि त्यागी साधक को विवेकपूर्वक संयमी जीवन को वहन करना चाहिये। संयमी जीवन में विवेकपूर्वक आचरण करना यही उसका एकमात्र कर्तव्य है।

इस प्रकार दशवैकालिक में उल्लिखित नियमों का विवेकपूर्ण निराकरण करने के लिये मैंने यहाँ वाचकों को अति संक्षेपमें अनेकान्त-वाद सिद्धान्तकी झांखी कराई है।

आभार

इस सूत्र का (गुजराती) अनुवाद करते समय डॉक्टर शूब्रिंग, प्रोफेसर अभ्यंकर, डॉक्टर जीवराजभाई, पूज्य श्री. अमोलक ऋषिजी महाराज, तथा उपाध्याय श्री. आत्मारामजी महाराज के अनुवादों की यथावकाश मदद ली गई है और प्रोफेसर अभ्यंकर, डॉक्टर शूब्रिंग तथा उपाध्यायजीकी प्रस्तावनाओंमें से उपयोगी प्रमाण भी लिये हैं, उन सबका मैं हार्दिक आभार मानता हूं।

श्री. उत्तराध्ययन के अनुवाद की अपेक्षा इस अनुवाद में भी मेरे गुरुदेव के निरीक्षण का कुछ कम भाग नहीं है। उनका आभार जड़ शब्दों में कैसे प्रदर्शन किया जा सकता है ! इसी प्रकार अन्य सज्जनों का, जिनने इस तथा अन्य पुस्तकों के प्रकाशन में बहुत कुछ परिश्रम एवं कष्ट उठाया है उन सबकी सेवा वाचकों को आभार स्मरण करते हुए मैं इसे यहीं समाप्त करता हूं।

संतबाल—

प्रस्तावना

जैन आगमों में दशवैकालिक सूत्र मूलसूत्र तरीके माना जाता है। आगम साहित्य (श्वे० मू० तथा श्वे० स्था० के मान्य) के अंग, उपांग, मूल तथा छेद ये चार विभाग हैं। इन सबकी संख्या ३१ और एक आवश्यक सूत्र इन सबको मिलाकर कुल ३२ सूत्र, सर्वमान्य हैं। उस में से मूल विभाग में दशवैकालिक का समावेश होता है।

आचारांग, सूयगडांग आदि १२ सूत्रों की गणना अंग विभाग में की जाती है किन्तु उनमें से 'दृष्टिवाद' नामक एक समृद्ध एवं सुन्दर अंग सूत्र आजकल उपलब्ध नहीं है इसलिये कुल ११ ही अंग माने जाते हैं। उववाई, रायपसेणी इत्यादि की गणना उपांग में; उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि की गणना मूल में और व्यवहार, बृहत्कल्प आदि की गणना छेद सूत्रों में की जाती है।

अंग एवं उपांगो में जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्त के सिवाय विश्व के अन्य आवश्यक तत्त्वों, उदाहरण के लिये जीव, अजीव (कर्म) तथा उसके कार्य कारण की परंपरा एवं कर्मबंधन से मुक्त होने के उपाय आदि का भी खूब ही विस्तृत वर्णन किया गया है। मूल

सूत्रो में केवल सारभूत तत्त्वों का वर्णन तथा संयमी जीवन संबंधी यमनियमों का उपदेश विशेष रूप में दिया गया है। छेद सूत्रों में श्रमण-जीवन संबंधी यमनियमों में जो भूल हो जाय उनके प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने के उपायों का वर्णन किया गया है।

दशवैकालिक में साधु-जीवन के यमनियमों का मुख्यतः वर्णन होने से, ठाणांग सूत्र के चोथे ठाणे में वर्णित चार योगों में से चरणानुयोग में इसका समावेश किया जा सकता है।

'मूल' नाम क्यों पड़ा ?

अंग, उपांग तथा छेद इन तीन विभागों के नामकरण तो उनके विषय एवं अर्थ से स्पष्ट तथा समझ में आ जाते हैं और उनके वैसे नामकरण के विषय में किसी भी पाश्चात्य अथवा पौर्वात्य विद्वान को लेशमात्र भी मतविरोध नहीं है किन्तु 'मूल सूत्र' के नामकरण में भिन्न २ विद्वानों की भिन्न २ कल्पनायें हैं।

शार्पेन्टियर नामक एक जर्मन विद्वान 'मूल सूत्र' नाम पडने का कारण यह बताते हैं कि इस सूत्र में स्वयं भगवान महावीर के ही शब्द "Mahavir's own words" * का संग्रह किया गया है अर्थात् इन सूत्रों का प्रत्येक शब्द स्वयं महावीर के मुख से निकला हुआ है इसलिये इन सूत्रों का नाम 'मूल सूत्र' पड़ा।

यह कथन शंकास्पद है क्योंकि इस ग्रंथमें केवल भगवान के ही शब्दों का संग्रह है और किसी के शब्दों का नहीं, अथवा इसी शास्त्र में भगवान के उपदेश हैं अन्य ग्रंथों में नहीं—यह नहीं कहा जा सकता।

* See Utt. Su. Introduction P. 79.

दशवैकालिक सूत्र के कई एक प्रकरण अन्य आगमों में से लिये गये हैं और वे उद्धृत से स्पष्ट मालूम होते हैं; इसलिये उक्त मत का खंडन करते हुए डॉक्टर वाल्थर शुब्रिग (Dr. Walther Schubring) लिखते हैं:—

"This designation seems to mean that these four works are intended to serve the Jain monks and nuns in the begining (मूल) of their career."

अर्थात्—ये सूत्र जैन साधु तथा साध्वी को साधु जीवन के प्रारंभ में आवश्यक यमनियमादि की आराधना के लिये कहे गये हैं, इस लिये इनका नाम 'मूलसूत्र' पड़ने का अनुमान होता है।

परन्तु इस मत परभी विद्वानों में ऐक्य नहीं है। जैन शास्त्रों के परम विद्वान् इटालियन प्रोफेसर गेरीनो (Professor Gnerinot) का यह मत है कि ये ग्रंथ Traites Original * अर्थात् मूल ग्रंथ हैं क्योंकि इन ग्रंथों पर अनेक टीकाएं तथा निर्युक्तियां रची गई हैं। टीका ग्रंथों में, जिस ग्रंथ की वह टीका होती है उसे सब जगह 'मूल ग्रंथ' कहा जाता है; ऐसी परिपाटी है जो हमें सभी टीका ग्रंथों में दिखाई देती है। जैन धार्मिक ग्रंथों में सबसे अधिक टीकाएं इन ग्रंथों पर हुई हैं और उन सब टीकाओं में इन्हें प्रचलित पद्धति के अनुसार 'मूल सूत्र' कहा गया है। इसलिये उनका अनुमान है कि टीकाओं की अपेक्षासे जैन आगम में इन सूत्रों को 'मूल सूत्र' कहने की प्रथा पड़ी होगी।

---

* देखो La Religion Dyaina P. 79

'मूल' शब्द के जितने उपयोगी अर्थ हो सकते हैं उन से एक एक को मुख्यता देकर ही इन पाश्चात्य विद्वानों ने अपनी जुदी २ कल्पनाएं की हैं-ऐसा मालूम होता है। क्योंकि थोडासा ही गहरा विचार करने से उनकी कल्पनाओं का थोथापन स्पष्ट विदित हुए बिना नहीं रहता।

उनमें से पहिली कल्पना उत्तराध्ययन को लागू हो सकती है क्योंकि भगवान महावीरने अपने अंतिम चातुर्मास में जिन ३६ बिना पूंछे हुए प्रश्नों के उत्तर दिये थे उन्हीं का संग्रह इस ग्रंथ में हुआ है। परंतु यह बात दशवैकालिक सूत्र को बिलकुल लागू नहीं होती और इससे प्रथम मत का खंडन स्वयमेव हो जाता है। संभवतः दूसरा मत दशवैकालिक की वस्तुरचना पर से बांधा गया होगा किन्तु उसका विरोध उत्तराध्ययन सूत्र की वस्तु रचना से हो जाता है क्योंकि उस में श्रमण जीवन संबंधी यमनियमों के सिवाय अनेक कथाएँ, शिक्षाप्रद दृष्टांत, मोक्षप्राप्ति के उपाय, लोकवर्णन इत्यादि जैन आगम की मूलभूत बहुत सी बातोंका वर्णन है। सारांश यह है कि उस में साधु-साध्वी के यमनियमादि का मुख्यतया वर्णन नहीं किया गया है इसलिये वह ग्रन्थ दशवैकालिक की वस्तुकोटि का नहीं है। इन दोनों मत-विरोधों का समन्वय करने के लिये ही संभवतः तीसरा मत ढूंढने की जरुरत पडी है किन्तु उसकी दलील भी ठोस नहीं है क्योंकि दशवैकालिक और उत्तराध्ययन की तरह अन्य अनेक अंगो-उपांगों पर टीकाएं रची गई हैं इसलिये टीकाओं के कारण ही ये ग्रन्थ 'मूल ग्रन्थ' कहलाये, यह कहना भी सर्वथा युक्तियुक्त नहीं है।

इस तरह प्रमाण की कसौटी पर कसने से पाश्चात्य विद्वानों के इनमतों में कुछ न कुछ दोष दृष्टिगत हुए विना नहीं रहते । विचार करने पर मालूम होता है कि पूर्वाचार्योंने इसी आध्यात्मिक अर्थ को प्रधानता देकर इन ग्रन्थों को 'मूल सूत्र' कहा है क्योंकि उनकी दृष्टि में इन दर्शन के सिद्धांत एवं जैनजीवन का रहस्य संक्षेप में यथार्थ रीतिसे समझने के लिये ये मूल ग्रन्थ ही सबसे उत्तम साधन हैं। इन मूल ग्रन्थों में जैन सिद्धांत एवं जीवन का वर्णन अनेक उदाहरण देकर इतनी सुन्दरता से किया गया है कि इन ग्रन्थों को पढकर अपरिचित व्यक्ति भी जैन धर्म और जैन धर्मी की पहिचान कर सकता है। इसीलिये इन्हें 'मूलसूत्र' कहा जाना विशेष सुसंगत जान पडता है ।

स्वयं दशवैकालिक भी हमें इसी अर्थको स्वीकार करने की प्रेरणा करता है और इसी मान्यता को श्री हेमचंद्राचार्य भी पुष्ट करते हैं। उनके मत के विषयमें डॉक्टर शूब्रिंग अपनी प्रस्तावना में लिखते हैं:—

"From this mixture of contents it can easily be understood why tradition, as represented in Hemchandra's Parisista pərvan 5, 81 H. in accordance with earlier models should ascribe the orijin of the Dasaveyaliya Sutt to an intention to Condense the essence of the sacred lore into an anthology."

"इसमें जुदी २ वस्तुओं का समावेश होने से दंतकथा के अनुसार हेमचंद्राचार्य के परिशिष्ट पर्व ५,८१ में दशवैकालिक सूत्र को जैनधर्मका तत्त्वबोध समझानेवाला ग्रंथ माना है।" स्वयं डॉक्टर शूब्रिंग ने भी आगे जाकर इसी मत को स्वीकार किया है।

मूल संज्ञा का प्रारंभकाल

एक प्रश्न यह भी होता है कि क्या ये ग्रंथ प्रारंभ से ही 'मूल सूत्र' कहलाते आये हैं? यदि नहीं, तो कबसे इनका यह नाम पडा? निःसंदेह यह प्रश्न पुरातत्त्व के विद्यार्थियों के लिये बडा ही रोचक है और खोजका है, किन्तु हमारा उद्देश्य इतनी गहराई में उतरने का नहीं है क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टिसे यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण भले ही हो किन्तु उससे ग्रंथ के महत्त्व में कुछ भी अन्तर नहीं पडता।

प्राप्त प्रमाणों से यही मालूम होता है कि इन ग्रंथों का 'मूल सूत्र' नाम श्री हेमचंद्राचार्य के कालमें (ईसाकी लगभग १२ वीं शताब्दि) पडा होगा क्योंकि इसके पहिले अन्य सूत्रों में कहीं भी उन्हें मूल सूत्र नहीं कहा गया। नन्दी सूत्रमें आगम ग्रंथों को केवल दो भागोंमें बाँटा गया है: (१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगबाह्य। अंगबाह्य के भी दो भेद हैं: (१) कालिक, और (२) उत्कालिक। उसमें दशवैकालिक सूत्र को उत्कालिक आगमों में शामिल किया है, किन्तु उसमें आदि से अन्त तक कहीं भी 'मूलसूत्र' का नाम तक नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि यह संज्ञा प्रारंभ में न थी; बादमें प्रचलित हुई और वह अनुमानतः हेमचंद्राचार्य के समय में प्रचलित हुई और वह भी इसीलिये कि इनमें जैनधर्म का खाका अत्यन्त सरलता से खींचा गया है।

इस ग्रन्थ का कर्ता कौन ?

नामकरण के विषय में इतना ऊहापोह करने के बाद, दशवैकालिक सूत्र का कर्ता कौन है ? यह प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रश्न भी प्रथम प्रश्न की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण एवं रोचक नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि लगभग २००० वर्षों से ये ग्रन्थ अस्तित्व में हैं और सैंकडों वर्षों तक उत्तर एवं दक्षिण भारत में राज्य करनेवाले राजा-महाराजाओं के मान्य जैन धर्म के सिद्धांतो के प्ररूपक ग्रन्थों के सामान्य पद पर ये अधिष्ठित रहे हैं, फिर भी आजतक इन ग्रन्थों के मूल कर्ता के विषय में केवल परंपराओं के सिवाय, श्रृंखलाबद्ध ऐतिहासिक प्रमाण कुछ भी नहीं है। और न किसी जैनाचार्यने इस विषय में कुछ विशेष ऐतिहासिक प्रकाश डालने की चेष्टा ही की है।

ऐसा माना जाता है कि अन्य आगमों का संग्रह श्री सुधर्मा स्वामीने किया। इन संग्रहो में उनने स्वयं भगवान महावीर द्वारा कथित शब्दों का संग्रह किया था और उन उपदेशों का अपने पट्ट शिष्य जंबु स्वामी को सुनाया था। अनेक ग्रन्थों पर **सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमक्खायं'** यह वाक्य मिलता है जिसका अर्थ यह है कि "हे भद्र! उन भगवान (महावीर) ने ऐसा कहा था।" इसी तरह के वाक्यप्रयोग दशवैकालिक सूत्र में भी यत्रतत्र हुए हैं इस पर से ऐसी मान्यता चली आती है कि इस ग्रन्थ का संकलन भी सुधर्मा स्वामीने किया है और उनने ये उपदेश जंबू स्वामी को सुनाये थे। किन्तु यह मान्यता अभी तक सर्वमान्य नहीं हो सकी अर्थात् इस ग्रन्थ के रचयिता के संबंध मे मतभेद मौजूद हैं।

निर्युक्तिकार कहते हैं: निज्जूढं किर सेज्जंभवेण दसकालिय तणं ॥ भद्रबाहु नि० ॥ १२ ॥ अर्थात् शय्यंभव नामक आचार्य द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थ है। हेमचंद्राचार्य ने भी इसी मत को प्रमाणभूत माना है। दशवैकालिक सूत्र की संपूर्ण रचनाशैली से भी इसी मत की पुष्टि होती है।

दशवैकालिक की रचनाशैली.

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन की पहिली गाथा में जैन धर्म का संपूर्ण रहस्य समझाया गया है। जैनदर्शन का अंतिम ध्येय संपूर्ण आत्म स्वरुप की प्राप्ति का हैं। कर्मों से सर्वथा मुक्त हुए बिना संपूर्ण आध्यात्मिक की प्राप्ति हो नहीं सकती और संपूर्ण मुक्ति की प्राप्ति क्रोधादि षड्रिपुओंका संपूर्ण क्षय हुए बिना बिलकुल असंभव है। इसलिये उन रिपुओं का संहार करने के लिये "अप्पाणमव जुज्झाहि, अप्पा चेव दमेयव्वो" (आत्मा के साथ ही युद्ध करो; आत्मा का ही दमन करो) का उपदेश दिया गया है। उस युद्ध में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संयम तथा तपश्चर्या को शस्त्र बना कर गृहस्थ तथा श्रमण मार्गों के राजमार्ग द्वारा ध्येय तक पहुंचने का उपदेश दिया है। उसके बाद से ऊनी संख्याओं के अध्यायो में श्रमण चारित्र तथा चौथे अध्याय से लेकर पूरी संख्याओं के अध्यायों में मुख्यतः साधुजीवन संबंधी शिक्षाओं का धाराप्रवाह वर्णन किया है।

इस प्रकार के अस्खलित धाराप्रवाहिक शैली से यह सिद्ध होता है कि यह सूत्र अपने शिष्य को संबोधने के लिये किसी गुरुदेव ने बताया हो।

क्या यह ग्रंथकार की स्वतंत्र कृति है ?

यद्यपि इस सूत्र की रचना शय्यंभव ने बिलकुल स्वतंत्र रूपसे की हो ऐसा मालूम नहीं होता क्योंकि यदि यह उनकी एक स्वतंत्र कृति होती तो एक ही बात पुनः पुनः इसमें न आने पाती परन्तु इसमें अनेक जगह एक ही बात एक ही शब्दको ही पुनः २ दुहराई गई है इससे तो यही मालूम होता है कि मानों कोई गुरु अपने प्रियजनको सरल एवं सुन्दर शब्दमें ही किसी गूढ बातको पुनः जोर देकर समझा रहा है और शिष्य भी बडे भोले भावसे उनकी शिक्षाओं का दुहराता जाता है। (देखो अध्याय ४ था) चौथे अध्याय के प्रवेशमें शय्यंभव आचार्य का अपने प्रिय शिष्य मनक को उद्देश्य (लक्ष्य) करके बोलने का निर्देश भी किया गया है। इन सब कारणों से यही सिद्ध होता है कि शय्यंभव आचार्य ने इस ग्रंथ का संपादन अपने शिष्य मनक के लिये किया हो।

यह ग्रंथ उनकी कोई स्वतंत्र कृति नहीं है किन्तु भिन्न २ आगमों में से उत्तमोत्तम अंश संग्रहीत कर इसे एक स्वतंत्र ग्रंथ का रूप दे दिया गया है। यह बात निम्नलिखित प्रमाणों से स्वयंसिद्ध हो जाती है:—

प्रमाण

प्रथम अध्ययन

उरग गिरि जलन सागर
नहतल तरुगण समो य जो होई।
भमर मिय धरणि जल रूह
रवि पवण समो अ सो समणो॥

उपरोक्त गाथामें अनुयोग द्वार सूत्र में वर्णित १२ उपमाओं से भ्रमर की उपमा का विशद वर्णन किया है।

दूसरा अध्ययन

यह अध्ययन बहुत कुछ अंश में उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन से मिलता जुलता है। उसकी बहुत सी गाथाएं इसमें भी ज्यों की त्यों रख भी गई हैं।

तिसरा अध्ययन

इसका कुछ भाग निशीथ सूत्र आदि में से लिया हुआ मालूम होता है।

चौथा अध्ययन

आचारांग सूत्र के २४ वें अध्ययन से बिलकुल मिलता जुलता है।

पांचवां अध्ययन

आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के 'पिण्डैषणा' नामक प्रथम अध्ययन का लगभग अनुवाद मात्र है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहां उसका वर्णन विशेष सुन्दरता के साथ किया गया है।

छट्ठा अध्ययन

समवायांग सूत्र के १८ समवायों की १८ शिक्षाओं का वर्णन है।

सातवां अध्ययन

आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध के भाषा नामक १३ वें अध्ययन का यह विस्तृत वर्णन है।

आठवां अध्ययन

यह ठाणांग सूत्र के आठवें अध्ययन की वस्तु है।

नौवां अध्ययन

इसमें उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन की वस्तु कुछ जुदे स्वरूप में वर्णन की गई है।

दसवां अध्ययन

यह उत्तराध्ययन सूत्र के पन्द्रहवें अध्ययन से बिलकुल मिलता जुलता है और यहांतक कि बहुत सी गाथाएं भी आपसमें बिलकुल मिलती जुलती हैं यहींतक नहीं रचनाशैली में भी इसमें इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वैतालीय इत्यादि पद्यों का उपयोग भी उसको देखादेखी ही किया गया है।

इस ग्रंथ के अंत में दो चूलिकाएं हैं। उनकी रचना एवं प्रकार से ऐसा मालूम होता है कि वे १० अध्ययनों के संग्रह के पीछे कुछ काल बाद इस ग्रंथ में जोडी गई हैं। क्योंकि प्रथम अध्ययन के प्रथम श्लोक में आदि मंगलाचरण किया है। सातवें अध्ययन में मध्य मंगलाचरण किया है और दसवें अध्ययन में अन्त्य मंगलाचरण किया है किन्तु चूलिका में मंगलाचरण का नाम तक भी नहीं है किन्तु इनकी प्रथम दस अध्ययनों की भाषा से बिलकुल मिलती जुलती है। इससे अनुमान होता है कि इन दोही चूलिकाओं के कर्ता भी श्री० शय्यंभव मुनि ही होंगे।

दशवैकालिक की रचना का फल.

भगवान महावीर के निर्वाण के बाद उनके पाट पर गणधर सुधर्मा स्वामी आये। उनके बाद जंबू स्वामी और जंबू स्वामी के

बाद प्रभव स्वामी हुए। प्रभवस्वामी के उत्तराधिकारी शय्यंभव हुए और ये ही इस ग्रंथ के कर्ता हैं। उनका आचार्यकाल वीरसंवत् ७५ से ९८ तक का है, यह बात निम्न लिखित पट्टावली से सिद्ध होती है:—

तदनु श्री शय्यंभवोऽपि साधानमुक्तनिजभार्याप्रसूतमनकाख्य पुत्र हिताय श्री दशवैकालिकं कृतवान्। क्रमेण च श्री यशोभद्रं स्वपदे संस्थाप्य श्री वीरादष्टनवत्या (९८) वर्षैः स्वर्जगाम।

"अर्थात् श्री शय्यंभव स्वामी ने गृहस्थावास में सगर्भा छोड़ी हुई पत्नी से उत्पन्न मनक नामक शिष्य के कल्याण के लिये दशवैकालिक की रचना की। और कुछ समय बाद अपने पद पर यशोभद्र स्वामी को स्थापित कर भ. महावीर के निर्वाण संवत् (९८) में वे कालधर्म को प्राप्त हुए।*

इससे यही सिद्ध होता है कि शय्यंभव आचार्य ने अपने पुत्र मनक के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की थी।†

भाषा की दृष्टि से प्राचीनता।

दशवैकालिक की भाषा देखने से मालूम होता है कि यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें प्रयुक्त बहुत से क्रियाप्रयोगों एवं शब्दों के तादृश्य

---

* देखो आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कल्पसूत्र की सुबोधिनि टीका का पृष्ठ नं० १६१॥

† लोकप्रवाद तो यह है कि शय्यंभवाचार्य को ६ महिने पहिले ही मनकी मृत्यु मालूम हो गई थी। उसके प्रतिबोध के लिये थोड़े ही समय में अन्य ग्रन्थों के आधार पर सरलतया भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की थी॥

प्रयोग आचारांग एवं सूयगडांग में पाये जाते हैं। यहां केवल कुछ विलक्षण शब्द-प्रयोगों पर विचार किया जाता है।

प्राकृत 'किच्चा' शब्द संस्कृतमें 'कृत्वा' होता है किन्तु इस ग्रन्थके अन्तकी प्रथम चूलिकामें 'किच्चा' के बदले इसी अर्थमें 'कट्टु' शब्द उपयुक्त हुआ है। आचारांग सूत्रकी गाथा नं. १४८ में भी इसी अर्थमें 'कट्टु' शब्दका उपयोग हुवा है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ भी आचारांग सूत्रके समान ही प्राचीन है।

इसी प्रकार प्राकृत 'नच्चा' (सं. ज्ञात्वा) के अर्थमें इस ग्रन्थके आठवें अध्ययनमें 'जाणं' शब्दका प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग सूत्र के १-९-१ में 'जाणं' का उपयोग हुआ है। *

इनके सिवाय फोसई, संसेइम, खुड्डय, खिसई, अत्ता, महल्लगं, अयंपिरो आदि प्रयोगोंमें कुछ तो आर्ष प्रयोग हैं और कुछ श्री आचरांग, श्री सूयगडांग, तथा श्री उत्तराध्ययन में व्यवहृत प्राचीन भाषा के प्रयोग हैं।

इस प्रकार दशवैकालिक की प्राचीनता, उपयोगिता, एवं प्रामाणिकता अनेक दृष्टिबिन्दुओं से सिद्ध होती है।

दशवैकालिक नाम क्यों पड़ा ?

इस प्रश्नका निराकरण निर्युक्तिकारों ने इस प्रकार किया है "वेयालियाए ठविया तम्हा दसकालियं नाम"— अर्थात् दस विकालों (सायंकालों) में दस अध्ययनों का उपदेश दिया गया, इस लिये उनके संग्रहका नाम 'दशवैकालिक' रखा गया। इस

---

* यद्यपि इसका अर्थ कहीं २ अपूर्ण वर्तमान कालके 'जानत्' के समान किया गया है किंतु उपरोक्त अर्थ ही यहां विशेष सुसंगत है।

कथन से भी चूलिकाए पीछे से प्रक्षिप्त होने के अनुमान की पुष्टि होती है। ×

इस ग्रंथमें वर्णित तत्त्व

इसके प्रथम अध्ययन में धर्म की प्रशंसा और साधु जीवन की भ्रमर के साथ तुलना बहुत ही सुन्दर शब्दों में की गई है।

दूसरा अध्ययन मनोभावनापूर्ण एक प्राचीन दृष्टान्त के कारण बहुत ही उपयोगी है।

तीसरे अध्ययनमें साधुजीवनके नियमों एवं आचरण विषयक स्पष्टीकरण है। चौथे अध्ययनमें, जैनधर्म के सिद्धान्तों, दुनियांके जीवों के जीवन, और श्रमण जीवनके मूलव्रतोंका अच्छा वर्णन किया है।

पांचवें अध्ययनमें भिक्षा संबंधी समस्त क्रियाओं एवं ग्राह्याग्राह्य-वस्तुओंका वर्णन किया है। इस अध्ययनमें आये हुए शिक्षापद कुन्द-नमें जडे हुए हीरों के समान जगमगा रहे हैं।

छट्ठे और आठवें अध्ययनमें १८ स्थानोंका वर्णन कर साधु-जीवन के नियमोपनियमों का विस्तृत स्पष्टीकरण किया है।

सातवें अध्ययनमें भाषाशिक्षा, नौवें अध्ययनमें गुरुभक्तिका माहात्म्य और दशवें अध्ययनमें आदर्श साधु की व्याख्या बडे ही भावपूर्ण शब्दो में दी है। प्रत्येक अध्ययन वाचकके हृदयपट पर अपने २ विषय की गहरी छाप डालता है।

× चूलिकाओं के संबध में परंपरा के अनुसार एक विचित्र सी मान्यता चली आती है किन्तु उसकी सत्यता बुद्धिगम्य न होने के कारण उसका यहां उल्लेख नहीं किया है।

प्रथम चूलिकामें बाह्य एवं आंतरिक कठिनताओं के कारण संयमी जीवन छोडकर गृहस्थाश्रममें पुनः जानेकी इच्छाकी संभावना बताकर मात्र जैनदर्शन के सिद्धान्तों का ही नहीं किन्तु मनुष्य मात्र के हृदयमें उत्पन्न होनेवाली अच्छी बुरी, बलिष्ठ तथा निर्बल स्वाभाविक भावनाओंका तादृश्य चित्र खींच कर सामने खडा कर दिया है। यह अध्ययन इस बातकी साक्षी दे रहा है कि इस ग्रंथके रचयिता मानस शास्त्र के बडे ही गहरे अभ्यासी थे।

द्वितीय चूलिकामें आर्य के नियमों का वर्णन किया है।

इस प्रकार दशवैकालिकका साद्यंत सुन्दर संकलन पूरा होता है।

दशवैकालिक की विशिष्टताएं

इस ग्रथमें प्रवेश करते ही, यह हमें सीधा मोक्षका मार्ग बताता है। अर्थात् वीतराग भावकी पराकाष्ठा और उसकी प्राप्ति का मार्ग ही धर्म है।

'वत्थु सहाओ धम्मो' अर्थात् वस्तु के स्वभाव को 'धर्म' कहते हैं। इसमें आत्मस्वरूप की प्राप्ति कराने वाले धर्म की सुन्दर व्याख्या दी है और साथ ही साथ उस आत्मधर्म के अधिकारी एवं उस धर्मकी साधना का अनुक्रम भी बताया है।

जबतक मनुष्य अपनी योग्यता को प्राप्त नहीं होता अर्थात् मानव-धर्मकी प्राप्ति नहीं करता तबतक उसे आत्मधर्म की साधनामें सफलता नहीं मिल सकती। इस अनुक्रमको समझाने के लिये धर्मके साथ वृक्षकी सुघटित उपमा देकर धर्मरूपी वृक्ष का मूल विनय को बताया है। विनय (विशिष्ट नीति) में मानवता, सज्जनता, शिष्टता और साधुताका समावेश होता है और ये सब गुण मोक्ष धर्म की सीढियां हैं।

वेद धर्म में भी ब्रह्म जिज्ञासु की योग्यता के चार लक्षण बताये हैं :—

विवेकिनो विरक्तस्य शमादि गुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासा योग्यता मता ॥
(विवेक चूडामणि)

अर्थात् विवेक, वैराग्य, शमादि षट् संपत्ति और मुमुक्षता ये चार ब्रह्मजिज्ञासु के लक्षण हैं। जब तक इतने गुणों का पूर्ण विकास न हो तब तक वह साधक ब्रह्मप्राप्ति के योग्य नहीं हो सकता।

बौद्ध धर्म में भी चार आर्यसत्य बता कर दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध इन चार गुणों को जो साधक विवेक पूर्वक धारण करता है वही अंत में निर्वाण का अधिकारी होता है इस बातकी पुष्टि करता है।

इस प्रकार भारतवर्ष के ये तीन प्राचीनतम धर्म तत्त्वतः परस्पर में भिन्न २ होने पर भी एक ही मार्ग दिशा के सूचक हैं यह देख कर ऐसे धर्म समन्वय करने वाले धर्मसूत्रों को बुद्धिवाद एवं सर्वधर्म समन्वय के इस जमाने में मान्य करने के लिये कौनसा जिज्ञासु तैयार न होगा ?

टीकाएं

दशवैकालिक सूत्र की निम्न लिखित टीकाएं हो चुकी हैं :—

इस ग्रंथ पर सबसे अधिक प्राचीन श्री भद्रबाहु स्वामि की निर्युक्ति है, उनके बाद श्री हरिभद्रसूरि की टीका और समयसुन्दर गणि की दीपिका है। ये तीनों टीकाएं बडी ही सुन्दर एवं सर्वमान्य हैं। इनके बाद सुमति सूरि की लघु टीका, श्री तिलोक सूरि की प्राकृत चूर्णि

संस्कृत अवचूरि तथा उनके शिष्य ज्ञानसम्राट की बालावबोध गुजराती टीका है। इनके सिवाय संवत १६४३ में खडतरगच्छीय जिनराजसूरि के प्रशिष्य राजहंस महोपाध्यायने भी गुजराती भाषामें एक टीका बनाई थी।

ईस्वी सन् १८९२ में डॉक्टर अनर्स्ट ल्युमॅन (Dr. Ernest Leuman) ने सबसे पहिले अपनी Journal of the German Oriental Society द्वारा इस ग्रंथकी एक आवृत्ति प्रकाशित की थी। इस के प्रकाशन के पहिले सभी प्रतियां केवल हस्तलिखित थी। किन्तु छापखाने के प्रचार के साथ २ अनेक आवृत्तियां भारतवर्ष में भी प्रकाशित होती रही हैं। उनमें विशेष उल्लेख्य संवत १९५७ में प्रकाशित राय धनपति सिंह बहादुर की पंचांगी आवृत्ति है। इस पुस्तकमें सबसे पहिले मूल गाथा, उसके नीचे श्री हरिभद्रसूरीकी बृहद्वृत्ति, उसके नीचे निर्युक्ति, और बादमें क्रमशः गुजराती अनुवाद, अवचूरि और दीपिका दिये गये है।

इसके बाद डॉक्टर जीवराज घेलाभाईने भी इस ग्रन्थको ३-४ आवृत्तियां प्रकाशित कराई थी। सन १९३२ में डॉक्टर शूब्रिंगने अहमदाबाद की आनंदजी कल्याणजी की पेढी की मांग पर जर्मनीमें एक आवृत्ति प्रकाशित की थी। इसी अर्से में प्रोफेसर अभ्यंकर ने जैन साहित्य के अभ्यासी कालेज के विद्यार्थियों के लिये श्री भद्रबाहु निर्युक्ति सहित अंग्रेजी अनुवाद के साथ दशवैकालिक प्रकाशित किया। कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि यह पुस्तक टिप्पणियों तथा नोटों से अलंकृत बहुत ही आकर्षक आकार में प्रकाशित हुई है।

इन प्रकाशनों के सिवाय आगमोदय समिति–सुरत, जैनधर्मप्रसारक सभा–भावनगर, अजरामर जैन विद्याशाला लींबडी तथा, पूज्यश्री अमुलखऋषिद्वारा अनुवादित और ऋषि समिति–हैद्राबादसे प्रकाशित आदि अनेक मूलके साथ २ संस्कृत तथा हिन्दी अनुवादों सहित प्रकाशन हो चुके हैं। फिरभी हिंदी संसारमें इसका विशेष प्रचार न होने के कारण उस कमी की पूर्तिके लिये श्री हंसराज जिनागम विद्याप्रचारक फंड समिति की तरफसे यह नवीन प्रकाशन किया जा रहा है।

इस ग्रंथमें भी उत्तराध्ययन सूत्रकी तरह उपयोगी टिप्पणियां देकर सूत्रका असली रहस्य सरलतासे समझा जा सके इसी दृष्टिसे अति सरल भाषा रखने और गाथाका अर्थ टूटने न पावे उस अविच्छिन्न शैलीको निभानेका यथाशक्य प्रयास किया है

अन्तमें, यही प्रार्थना है कि इस ग्रंथमें अजानपन किंवा प्रमादसे कोई त्रुटि रह गई हो तो विद्वान सज्जन उसे हमें सूचित करने की कृपा करें जिससे आगामी संस्करण में योग्य सुधार किये जा सकें।

— सन्तबाल

अनुक्रमणिका

४ षड्जीवनिका (गद्य विभाग) २१

श्रमण जीवन की भूमिका में प्रवेश करने वाले साधक की योग्यता कैसी और कितनी होनी चाहिये ? श्रमण जीवन की प्रतिज्ञा के कठिन व्रतों का संपूर्ण वर्णन - उन्हें प्रसन्नता पूर्वक पालने के लिये जागृत वीर साधक की प्रबल अभिलाषा।

(पद्य विभाग)

काम करने पर भी पापकर्म का बंध न होने के सरल मार्ग का निर्देश - अहिंसा एवं संयम में विवेक की आवश्यकता - ज्ञानसे लेकर मुक्त होने तक की समस्त भूमिकाओं का क्रमपूर्वक विस्तृत वर्णन - कौनसा साधक दुर्गति अथवा सुगति को प्राप्त होता है - साधक के आवश्यक गुण कौन २ से हैं ?

५ पिण्डैषणा (प्रथम उद्देशक) ४८

भिक्षा की व्याख्या - भिक्षा का अधिकारी कौन ? भिक्षाकी गवेषणा करने की विधी - किस मार्ग से किस तरह आगमन किया जाय ? चलने, बोलने आदि क्रियाओं में कितना सावधान रहना चाहिये ? - कहां से भिक्षा प्राप्त की जाय ? - किस प्रकार प्राप्त की जाय ? गृहस्थ के यहां जाकर किस तरह खड़ा होना चाहिये ? - निर्दोष भिक्षा किसे कहते हैं ? कैसे दाता से भिक्षा लेनी चाहिये ? - भोजन किस तरह करना चाहिये ? - प्राप्त भोजन में किस तरह सन्तुष्ट रहा जाय ?

भिक्षा के समय ही भिक्षा के लिये जाना चाहिये - थोडी सी भी भिक्षा का असंग्रह - किसी भी भेदभाव के बिना शुद्ध आचरण नियम वाले घरों से भिक्षा लेना - रसवृत्ति का त्याग ।

मोक्षमार्ग का साधन क्या है ? - स्तंभ क्या है ? - श्रमणजीवन के लिए आवश्यक १८ नियमों का मार्मिक वर्णन - अहिंसा पालन किस लिये ? - सत्य तथा असत्य व्रतकी उपयोगिता कैसी और कितनी है ? - मैथुन वृत्तिसे कौन २ से दोष पैदा होते हैं ? - ब्रह्मचर्य की आवश्यकता - परिग्रह की जीवनस्पर्शी व्याख्या - रात्रि-भोजन किस लिये वर्ज्य है ? - सूक्ष्म जीवों की दया किस जीवन में कितनी शक्य है ? - भिक्षुओं के लिये कौन २ से पदार्थ अकल्प्य हैं ? - शरीर सत्कार का त्याग क्यों करना चाहिये ?

वचनशुद्धि की आवश्यकता - वाणी क्या चीज है ? वाणी के अतिव्यय से हानि - भाषा के व्यावहारिक प्रकार - उनमें से कौन २ सी भाषाएं वर्ज्य हैं - और किस लिये ? कैसी सत्यवाणी बोलनी चाहिये ? - किसी को दिल न दुखे और व्यवहार भी चलता रहे तथा संयमी जीवन में बाधक न हो ऐसी विवेकपूर्ण वाणी का उपयोग ।

सद्गुणों की सच्ची लगन किसे लगती है ? - सदाचार मार्ग की

कठिनता - साधक भिन्न २ कठिनताओं को किस प्रकार पार करे ? - क्रोधादि आत्मरिपुओं को किस प्रकार जीता जाय ? - मानसिक वाचिक तथा कायिक ब्रह्मचर्य की रक्षा - अभिमान कैसे दूर किये जाय ? - ज्ञानका सदुपयोग - साधुकी आदरणीय एवं त्याज्य क्रियाएं - साधु जीवन की समस्याएं और उनका निराकरण।

९ विनयसमाधि (प्रथम उद्देशक)

विनय की व्यापक व्याख्या—गुरुकुल में गुरुदेव के प्रति श्रमण साधक सदा भक्तिभाव रक्खें - अविनीत साधक अपना पतन स्वयमेव किस तरह करता है ? - गुरुको वय किंवा ज्ञान में छोटा जानकर उन की अविनय करने का भयंकर परिणाम—ज्ञानी साधक के लिये भी गुरुभक्ति की आवश्यकता—गुरुभक्त शिष्य का विकास विनीत साधक के विशिष्ट लक्षण।

(द्वितीय उद्देशक)

वृक्ष के विकास के समान अध्यात्मिक मार्ग के विकास की तुलना—धर्मसे लेकर उस के अंतिम परिणाम तक का दिग्दर्शन—विनय तथा अविनय के परिणाम विनय के शत्रुओं का मार्मिक वर्णन।

(तृतीय उद्देशक)

पूज्यता की आवश्यकता है क्या ? आदर्श पूज्यता कौनसी है ? —पूज्यता के लिये आवश्यक गुण--विनीत साधक अपने मन, वचन और काय का कैसा उपयोग करे ? विनीत साधक की अंतिम गति।

(चतुर्थ उद्देशक)

समाधि की व्याख्या और उस के चार साधन—आदर्श ज्ञान,

आदर्श विनय, आदर्श तप और आदर्श आचार की आराधना किस प्रकार की जाय ? उन की साधनामें आवश्यक जागृति।

१० भिक्षु नाम

सच्चा त्याग भाव कब पैदा होता है ? — कनक तथा कामिनी के त्यागी साधक की जवाबदारी—यतिजीवन पालने की प्रतिज्ञाओं पर दृढ कैसे रहा जाय ? — त्याग का संबंध बाह्य वेश से नहीं किन्तु आत्मविकास के साथ है—आदर्श भिक्षु की क्रियाएं।

११ रतिवाक्य (प्रथम चूलिका)

गृहस्थ जीवन की अपेक्षा साधु जीवन क्यों महत्त्वपूर्ण है ?— भिक्षु साधन परमपूज्य होने पर भी शासन के नियमों को पालने के लिये बाध्य है—वासना में संस्कारों का जीवन पर असर—संयम से चलित चित्तरूपी घोडे को रोकने के १८ उपाय—संयमी जीवन से पतित साधु की भयंकर परिस्थिति—उसकी भिन्न २ जीवों के साथ तुलना—पतित साधुका पश्चात्ताप—संयमी के दुःख की क्षणभंगुरता और भ्रष्ट जीवन की भयंकरता—मन स्वच्छ रखने का उपदेश।

१२ विविक्त चर्या (द्वितीय चूलिका)

एकांतचर्या की व्याख्या—संसार के प्रवाह में बहते हुए जीवों की दशा—इस प्रवाह के विरुद्ध जाने का अधिकारी कौन है ?— आदर्श एकचर्या तथा स्वच्छंदी एकचर्या की तुलना—आदर्श एकचर्या के आवश्यक गुण तथा नियम—एकांतचर्या का रहस्य और उसकी योग्यता का अधिकार—मोक्षफल की प्राप्ति।

प्रारंभ

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसिअं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं, महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणा दृष्टा, सर्वभूतेषु संयमः॥

व्रतों में सर्व से श्रेष्ठ, अहिंसा वीरने कही।
सर्व जीव दया पालो, दया का मूल संयम।

[दश० अ० ६ : ६]

द्रुम पुष्पिका

—(०)—

(वृक्ष के फूल संबंधी)

१

वस्तुका का स्वभाव ही उसका धर्म है। उसके बहुत से प्रकार हो सकते हैं, जैसे—देहधर्म, मनोधर्म, आत्मधर्म। उसी तरह व्यक्तिधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, विश्वधर्म, आदि भी। यहां तो विशेष करके साधुता निवाहने के उस साधुधर्म को समझाया गया है जिसमें मुख्य रूप से नहीं तो गौणरूप में ही इतर धर्मों (व्यक्तिधर्म, समाजधर्म, राष्ट्रधर्म, और विश्वधर्म) का समावेश होता है।

भगवान महावीर के पाट पर बैठकर उनके जिन प्रवचनों को श्री सुधर्मस्वामीने जंबूस्वामी से कहे थे उन्हीं प्रवचनों को अपने शिष्य मनक के प्रति श्री स्वयंभव स्वामीने इस प्रकार कहा था।

गुरुदेव बोले :—

[१] धर्म, यह सर्वोत्तम (उच्च प्रकार का) मंगल, (कल्याण) है। अहिंसा, संयम और तप—यही धर्म का स्वरूप है। ऐसे धर्म में जिसका मन सदैव लीन रहता है, उस पुरुषको देव भी नमस्कार करते हैं।

टिप्पणी-कोई भी मनुष्य अपना कल्याण (हित) देखे बिना किसी भी शुभ कार्य का आरंभ नहीं करता इसलिये कल्याण की सब किसी को आवश्य-

कता है। मंगल (कल्याण) के ५ प्रकार हैं: (१) शुद्ध मंगल–पुत्रादि का जन्म; (२) अशुद्ध मंगल–गृहादि नये बनवाना; (३) चमत्कारिक मंगल–विवाहादि कार्य; (४) क्षीण मंगल–धनादि की प्राप्ति और (५) सदा मंगल–धर्मपालन। इन सबमें यदि कोई सर्वोत्तम मंगल हो सकता है तो वह केवल धर्म ही है। दूसरे मंगलों में अमंगल होने की संभावना है किन्तु धर्मरूपी मंगल में अमंगल की संभावना है ही नहीं, वह सदा मंगलमय ही है और सदा मंगलमय ही रहेगा क्योंकि वह पालनेवाले को सदैव मंगलमय रखता है इसीलिये उसे सर्वोत्तम मंगल कहा है।

जीवों को दुर्गति में जाने से जो बचावे उसका नाम धर्म है। उस धर्म का समास इन तीनों वस्तुओं में हो जाता है:–

अहिंसा–अहिंसा अर्थात् प्राणातिपात से विरति। शुद्ध प्रेम अथवा सच्चा विश्वबंधुत्व भाव तभी पैदा होता है जब हृदय में अनुकंपा–दया का स्रोत उमडने लगता है। यावन्मात्र प्राणियों पर मित्रभाव रखना, उपयोगपूर्वक जानबूझकर किसीको दुःख पहुंचाने की इच्छा के बिना जो कोई भी दैहिक, मानसिक, अथवा आत्मिक क्रिया की जाती है वह सब वस्तुतः अहिंसक क्रिया है। इस प्रकार की अहिंसा का आराधक मात्र अहिंसक ही नहीं होता किन्तु हिंसा का प्रबल विरोधी भी होता है।

संयम–आस्रव के द्वारों से उपरति (पापकार्यों को रोकना) को कहते है। संयम के तीन प्रकार हैं: (१) कायिक संयम, (२) वाचिक संयम, और (३) मानसिक संयम। शरीर संबंधी आवश्यकताओं को यथाशक्ति घटाते जाना इसे कायिक संयम कहते हैं। वाणी को दुष्मार्ग से रोककर सुमार्ग पर लगाना–यह वाचिक संयम है और मन को दुर्विकल्पों से बचाकर सुव्यवस्थित रखना–इसे मानसिक संयम कहते हैं। संयम के १७ भेदों का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

तप–वासना के निरोध करनेको तप कहते हैं। गहरी से गहरी मलीन चित्तवृत्ति की शुद्धि के लिये, आंतरिक तथा बाह्य क्रियाएं करना–

इसे 'तपश्चर्या' कहते हैं। तप के १२ भेद हैं जिनका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में किया है।

अहिंसा में स्व (अपना) तथा पर (दूसरों) दोनों का हित है। इससे सभी को शांति और सुख मिलता है, इसीलिये अहिंसा को धर्म कहा है। संयम से पापपूर्ण प्रवृत्तियों का विरोध होता है, तृष्णा मंद पड जाती है और ऐसे संयमी पुरुष ही राष्ट्रशांति के सच्चे उपकारी सिद्ध होते हैं। अनेक दुःखितों को उनके द्वारा आश्वासन मिलता है, असहाय एवं दीनजनों के करुणाश्रु उनके द्वारा पोंछे जाते हैं, इसीलिये संयम को धर्म कहा है। तपश्चर्या से अन्तःकरण की विशुद्धि होती है; अन्तःकरण की विशुद्धि से ही यावन्मात्र जीवों के ऊपर मैत्रीभाव पैदा होता है, इस मैत्रीभाव से आत्मा सब का कल्याण करना चाहती है, किसी का अहित वह नहीं करती; करना तो दूर रहा सोचती तक भी नहीं है, इसलिये तपश्चर्या को धर्म कहा है। इस प्रकार इन तत्त्वों द्वारा सामाजिक, राष्ट्रीय, और आध्यात्मिक तीनों दृष्टियों का समन्वय, शुद्धि एवं विकास होता है, इसलिये इन तीनों तत्त्वों की सभी क्रियाएं धर्म-क्रियाएं मानी गई हैं। ऐसे धर्म में जिनका मन ओतप्रोत हो रहा है वे यदि मनुष्यों द्वारा ही नहीं किंतु देवों द्वारा भी वंद्य हो तो इसमें आश्चर्य क्या है? ऐसे धर्मिष्ट के आसपास का वातावरण इतना निर्मल और ऐसा अलौकिक सुन्दर हो जाता है कि वह सबको मोह लेता है और देवताओं के उन्नत मस्तक भी वहां सहज ही झुक जाते हैं।

[२] जैसे भ्रमर वृक्षों के फूलों में से मधु चूसता है (रस पीता है) उस समय वह उन फूलों को थोडी सी भी क्षति नहीं पहुंचाता किन्तु फिर भी वह वहां से अपना पोषण (आहार) प्राप्त करता है;

[३] उसी तरह पवित्र साधु संसार के रागबंधनों (ग्रंथी) से रहित होकर इस विश्वमें रहते हैं; जो फूलमें से भ्रमर की तरह इस संसार में मात्र अपनी उपयोगी सामग्री (वस्त्रपात्रादि) तथा

शुद्ध-निर्दोष भिक्षा (अन्नपान) और वह भी गृहस्थ के द्वारा दी गई-प्राप्त कर सन्तुष्ट रहते हैं।

टिप्पणी-दूसरों को पीडा न देना इसीका नाम अहिंसा है। दूसरों को पीडा न पहुंचने पावे इस प्रकार बहुत ही थोडे (मात्र जीवन को टिकाये रखने के लिये अनिवार्य आवश्यक वस्तुओं) में जीवननिर्वाह कर लेना इसीका दूसरा नाम संयम है और वैसा करते हुए अपनी इच्छाओं का निरोध करना इसीको तप कहते हैं। इस प्रकार साधक (साधु) जीवन में स्वाभाविक धर्मका व्यावहारिक एव निश्चय दोनों दृष्टियों से पालन स्वयमेव होता रहता है। भ्रमर एवं साधु-इन दोनों में साधु की यही विशेषता है कि भ्रमर तो, वृक्ष के पुष्प की इच्छा हो या न हो फिर भी उसका रस चूसे बिना नहीं मानाता किन्तु भिक्षु तो वही ग्रहण करता है जिसे गृहस्थ श्रद्धा सहित अपनी राजीखुशी से उसे देता है। और बिना दिये हुए तो वह तृण भी किसी का नहीं लेता है।

[४] वे धर्मिष्ठ श्रमण साधक कहते हैं कि "हम अपनी भिक्षा उस तरह से प्राप्त करेंगे जिससे किसी दाता को दुःख न हो, अथवा हम इस प्रकार से जीवन बितायेंगे कि जिस जीवन के द्वारा किसी भी प्राणी को हमारे कारण से हानि न पहुंचे"। दूसरी बात यह है कि जैसे भ्रमर अकस्मात प्राप्त हर किसी फूल पर जा बैठता है उस प्रकार ये श्रमण भी अपरिचित घरोंसे (अपने निमित्त जहां भोजन न बनाया गया हो उन्हीं घरों से) ही भिक्षा ग्रहण करते हैं।

टिप्पणी-जो अन्तःकरण की शुद्धि कर यावन्मात्र प्राणियों पर समभाव रखते हुए तपश्चर्या में लीन रहता है उसे 'श्रमण' कहते हैं। श्रमण का जीवन स्वावलंबी होना चाहिये। उसकी प्रत्येक क्रिया हलकी होनी चाहिये। उसकी आवश्यकताएं अत्यंत परिमित होनी चाहिये। सारांश यह है कि साधुजीवन अत्यंत स्वार्थहीन एवं निष्पक्षपाती जीवन है और वह ऐसे निःसंग (निरासक्त) भाव से ही सुरक्षित रह सकता है।

[५] भ्रमर के समान सुचतुर मुनि (जो घर एवं कुटुंब से सर्वथा) अनासक्त तथा किसी भी प्रकार के भोजन में संतुष्ट रहने के अभ्यासी होने से दमितेन्द्रिय होते हैं, इसी कारण वे 'श्रमण' कहलाते हैं।

टिप्पणी–अनासक्ति, दान्तता (दमितेन्द्रियता) एवं जो कुछ भी मिल जाय उसीमें सन्तोष रखना ये तीन महान गुण साधुता के हैं। जो कोई भी मन, वचन और काय का दमन, ब्रह्मचर्य का पालन, कषायों का त्याग और तपश्चर्या द्वारा आत्मसिद्धि करता है वही सच्चा साधु है।

ऐसा मैं कहता हूं:–

इस प्रकार 'द्रुमपुष्पिका' नामक प्रथम अध्ययन संपूर्ण हुआ।

श्रामण्यपूर्वक

(साधुत्व सूचक)

२

इच्छा तो आकाश के समान अनन्त है ! भले ही समस्त विश्व पदार्थों से भरा हो फिर भी उनकी संख्या तो परिमित ही है इसलिये इच्छा की अनंतता की पूर्ति उससे कैसे हो सकती है ! संसार की परिमित वस्तुओंसे अनंत इच्छा का गड्ढा कैसे भरा जा सकता है?

यही कारण है कि जहां इच्छा, तृष्णा, अथवा वासना का अस्तित्व है वहां अतृप्ति, शोक और खेद का भी निवास रहता है; जहां खेद है वहां पर संकल्प-विकल्पों की परंपरा भी लगी हुई है और जहां संकल्प-विकल्पों की परंपरा लगी हुई है वहां शांति नहीं होती इसलिये शांतिरस के पिपासु साधु को अपने मनको बाह्य इच्छाओं से हटाकर अनन्तता से पूर्ण आत्मस्वरूप में ही संलग्न करना चाहिये-यही सच्चा श्रमणत्व है।

गुरुदेव बोले :—

[१] जो साधु विषयवासना किंवा दुष्ट इच्छाओं का निरोध नहीं कर सकता वह साधुत्व कैसे पाल सकता है? क्योंकि वैसी इच्छाओं के आधीन होने से तो वह पद पद पर खेदखिन्न होकर संकल्पविकल्पों में आ फँसेगा।

टिप्पणी–वासना ही अनर्थ का मूल है। यदि उसके वेग को दबाया न गया तो साधुधर्म का लोप ही हो जायगा। संकल्पविकल्पों की वृद्धि होने से मन सदैव चंचल ही बना रहेगा और चित्त की चंचलता पद पद पर खेद उत्पन्न कर उत्तम योगी को भी पतित कर डालेगी।

[२] वस्त्र, कस्तूरी, अगर, चंदन अथवा अन्य दूसरे सुगंधित पदार्थ, मुकुटादि अलंकार, स्त्रियां तथा पलंग आदि सुख को देनेवाली वस्तुओं को जो केवल परवशता के कारण नहीं भोगता है उसे साधु नहीं कहा जा सकता।

टिप्पणी–परवशता शब्द का यहां बड़ा गंभीर अर्थ है। इस शब्द का उपयोग करके ग्रंथकारने केवल बाह्य परिस्थितियों का ही नहीं किंतु आत्मिक भावोंका भी बडी गहरी मार्मिक दृष्टि से, निर्देश किया है। परवशता से यहां यह आशय है कि बाह्य सुख साधन ही न मिलें जिससे उन्हें भोगा जा सके। आत्मिक भाव के पक्ष में इसका आशय यह है कि बाह्य पदार्थों को भोगने की इच्छा बनी हुई है और योगायोग से वे मिल भी गये हैं किन्तु कर्मोदय ऐसा विकट हुआ है कि उनको भोगा ही नहीं जा सकता। रोगादिक अथवा ऐसे ही दूसरे अनिवार्य प्रसंग भोगों को भोगने नहीं देते। ऐसी दशा में उन भोगों को नहीं भोगने पर भी उसे कोई 'आदर्श त्यागी' नहीं कहेगा क्योंकि यद्यपि वहां पदार्थों का भोग नहीं है किन्तु उन पदार्थों को भोगने की लालसा का अस्तित्व तो है और यह लालसा ही तो पाप है। इसीलिये जैनधर्म में बाह्य वेश को प्रधानता नहीं दी गई। जो कुछ भी वर्णन हुआ है वह केवल आत्मा के परिणामों को लक्ष्य करके ही हुआ है, बाह्य वेश को नहीं।

[३] किन्तु जो साधु मनोहर एवं इष्ट कामभोगों को, अनायास प्राप्त होने पर भी, शुभ भावनाओं से प्रेरित होकर स्वेच्छा से त्याग देता है वही 'आदर्श त्यागी' कहलाता है।

टिप्पणी–मनोरम एवं दिव्य भोगों की संपूर्ण सामग्री हो, उनके भोग सकने योग्य स्वस्थ-सुन्दर शरीर भी हो, संपूर्ण स्वतंत्रता हो फिर भी वैराग्य पूर्वक उसका त्याग कर देनेवाला ही 'आदर्श त्यागी' कहा जा सकता है। यद्यपि भोगों के अभाव में भी त्याग की भावना का होना बड़ा ही कठिन है किन्तु इस गाथा में उत्तम त्याग की अपेक्षा से उपरोक्त कथन किया गया है। उत्तम त्याग वही है जो आत्माकी गहरी वैराग्यता से पैदा होता है।

[४] समदृष्टि से (संयम के अभिमुख दृष्टि रखकर) संयम में विचरने पर भी कदाचित् (भोगे हुए भोगों के स्मरण से अथवा अनभुक्त भोगों को भोगने की वासना जागृत होने से) उस संयमी साधु का चित्त संयम मार्ग से चलित होने लगे तो उस समय उसको इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये: "विषयभोगों की सामग्री मेरी नहीं है और मैं उनका नहीं हूं अथवा वह स्त्री मेरी नहीं है और मैं भी उसका नहीं हूं"। इस तरह सुविचार के अंकुश से उस पर से अपनी आसक्ति हटावे।

टिप्पणी–वासना का बीज इतना सूक्ष्म है कि कई बार वह नष्ट हुआ सा मालूम होता है किन्तु छोटा सा बाह्यसंयोग मिलते ही उसमें अंकुर निकल आते हैं। रथनेमि और राजीमतीका उत्तराध्ययन सूत्रमें दिया हुआ प्रसंग इस बातकी पुष्टि करता है। यदि कदाचित् संयम से चित्त विचलित होता हो तो उसे स्थिर करने वाले पुष्ट विचारों एवं उपायों को जानने के लिये देखो इसी सूत्र के अंतमें दी हुई चूलिका नंबर १।

मनोनिग्रह क्रियात्मक उपाय

[५] (महापुरुषोंने कहा है कि:) "शरीर की सुकोमलता त्याग कर उस समयकी ऋतु के अनुसार शीत अथवा ताप (गर्मी) की आतापना लो अथवा अन्य कोई अनुकूल तपश्चर्या करो और इसप्रकार से कामभोगों की वांछा को जांच आने पर दुःख को

भी पार कर सकोगे। द्वेषको काट डालो और आसक्तिको दूरकर दो बस ऐसा करने से ही इस संसार में सुखी हो सकते हो।

टिप्पणी–कामसे क्रोध, क्रोधसे संमोह, संमोह से रागद्वेष, और रागद्वेष से दुःख क्रमशः पैदा होते हैं। इस तरह यदि वस्तुतः देखा जाय तो मालूम होगा कि दुःख का मूल कारण वासना है इसलिये वासना का क्षय करने की क्रियारूपी तपश्चर्या करना यही दुःखनाश का एकतम उपाय है।

यहां पर रथनेमि तथा राजीमती का दृष्टांत देकर उक्त सत्यको और भी स्पष्ट करते हैं।

रथनेमि राजीमती का दृष्टांत

सोरठ देशमें अलकापुरी के समान विशाल द्वारिका नामकी एक नगरी थी। वहां विस्तीर्ण यादवकुल सहित श्रीकृष्ण राज्य करते थे। उनके पिताका नाम वसुदेव था। वसुदेव के बडे भाई का नाम समुद्रविजय था। उन समुद्रविजय के शिवादेवी नामकी पटरानी से उत्पन्न सुपुत्रका नाम नेमिनाथ था।

नेमिनाथ जब युवा हुए तब कृष्ण महाराज की प्रबल इच्छा से उनकी सगाई उग्रसेन (जिनका दूसरा नाम भोजराज* किंवा भोगराज भी था) राजा की धारणी नामकी रानी से उत्पन्न राजीमती नामकी परम सुन्दरी कन्या के साथ हुई थी।

श्रावण शुक्ला षष्ठी के शुभ मुहूर्त में बडे ठाटबाट के साथ वे कुमार नियत नियमों के अनुसार विवाह करने के लिये श्वसुर गृह की तरफ जा रहे थे। उसी समय मार्ग में पिंजरों में बंद पशुओं की पीडित पुकार उनके कानों में पडी। सारथी को पूछने पर उन्हें मालूम हुआ कि स्वयं उन्हीं के विवाह के निमित्त से उन पशुओं का वध होने वाला था।

* डॉ. हर्मन जैकोबी उसको भोजराज सिद्ध करते हैं।

यह सुनते ही उन्हें यह तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक अनर्थ एक ही कार्यमें दीखने लगे और इस संसार के स्वार्थों से उन्हें परम वैराग्य हुआ। पूर्व संस्कारों से उसको और भी वेग मिला और उनकी भावना का प्रवाह थोडी ही देर में पलट गया। वहीं से रथ लोटाकर वे अपने घर पर आये और खूब मनन करने के बाद अन्तमें उनने त्यागमार्ग अंगीकार किया। उनकी उत्कट भावना देखकर दूसरे एक हजार साधक भी उनके साथ २ योगमार्ग की आराधना के लिये निकल पडे।

उनके बाद राजीमती भी इसी निमित्त से प्रबल वैराग्य के साथ साध्वी हो गई। सात सौ सहचरियों के साथ उनने प्रव्रज्या धारण की।

एक समय की बात है कि रैवतक पर्वत पर नेमिनाथ भगवान को वंदना करने के लिये जाते समय मार्गमें खूब ही जलवृष्टि हुई जिससे राजीमती के सब वस्त्र भीग गये। वे पास ही की एक एकांत गुफामें उन वस्त्रों को उतार कर सुखाने लगीं।

उस समय उस गुफामें ध्यानस्थ बैठे हुए रथनेमि की दृष्टि उन पर पडी। रथनेमि नेमिनाथ के छोटे भाई थे और ये बालवयमें ही योगमार्गमें प्रवृत्त हुए थे। राजीमती के यौवनपूर्ण उस नयनाभिराम सौन्दर्य को देखकर रथनेमिका चित्त डोलायमान होने लगा। फिर वहां संपूर्ण एकांत भी थी–इस कारण उनकी दबी हुई कामवासना जाग्रत होगई। वासना ने उन्हें इतना व्याकुल बना दिया कि उन्हें अपनी साधु अवस्था का भी भान न रहा। अन्तमें उस साध्वी महासतीने रथनेमिको किस प्रकार पुनः संयम मार्गपर स्थित किया उसे जानने के लिये रथनेमि–राजीमती के मनोरंजक संवाद को पढो जो *उत्तराध्ययन के २२ वें अध्ययन में दिया गया है।

* उत्तराध्ययन सूत्रका हिंदी अनुवाद–पृष्ठ नं. २२१ से देखो।

योगेश्वरी राजीमती–देवीने जिन वचनरूपी अंकुशसे रथनेमिको सुमार्ग पर चलाया उन वचनों का तात्पर्य नीचे की गाथाओं में दिया गया है :—

[६] अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित अग्निमें जलकर मर जाना पसंद करते हैं किन्तु उगले हुए विषको पुनः पीना पसंद नहीं करते।

[७] हे अपयश के इच्छुक ! तुझे धिक्कार है कि तू वासनामय जीवन के लिये वमन किये हुए भोगों को पुनः भोगने की इच्छा करता है। ऐसे पतित जीवन की अपेक्षा तो तेरा मर जाना बहुत अच्छा है।

[८] मैं भोजकविष्णु की पौत्री तथा महाराज उग्रसेन की पुत्री हूं और तू अंधकविष्णु का पौत्र तथा समुद्रविजय महाराज का पुत्र है। देख, हम दोनों कहीं गंधनकुल के सर्प जैसे न बन जांय ! हे संयमीश्वर ! निश्चल होकर संयममें स्थिर होओ !

टिप्पणी–हरिभद्रसूरि के कथन के आधार पर डॉ. हर्मनजैकोबी अपनी टिप्पणी में लिखते हैं कि भोगराज (किंवा भोजराज) यह उग्रसेन महाराज का ही दूसरा नाम है। अंधकविष्णु यह समुद्रविजय महाराजका दूसरा नाम है।

[९] हे मुनि। जिस किसी भी स्त्रीको देखकर यदि तुम इस तरह काम मोहित हो जाया करोगे तो समुद्र के किनारे पर खड़ा हुआ हड नामका वृक्ष, जैसे हवा के एक ही झोके से गिर पड़ता है, वैसेही तुम्हारी आत्मा भी उच्च पदसे नीचे गिर जायगी।

[१०] ब्रह्मचारिणी उस साध्वी के इन आत्मस्पर्शी अर्थपूर्ण वचनों को सुनकर, जैसे अंकुशसे हाथी वशमें आजाता है वैसेही रथनेमि शीघ्र ही वश में आगये और संयम धर्ममें बराबर स्थिर हुए।

टिप्पणी–यहां हाथी का दृष्टांत दिया है तो रथनेमि को हाथी, राजीमती को महावत और उनके उपदेशको अंकुश समझना चाहिये। रथनेमि का विकार क्षणमात्रमें शांत होगया। आत्मभान जागृत होने पर उन्हें अपनी इस कृति पर घोर पश्चात्ताप भी हुआ किंतु जिस तरह आकाशमें बादल घिर आने से कुछ देरके लिये सूर्य ढँक जाता है किंतु थोडी ही देर बाद वह पुनः अपने प्रचंड तापसे चमकने लगता है, वैसे ही वे भी अपने संयम से दीप्त होने लगे। सच है, चारित्र का प्रभाव क्या नहीं करता?

[११] जिस तरह उन पुरुष शिरोमणि रथनेमिने अपने मनको विषय भोगसे क्षणमात्र में हटा लिया वैसे ही विचक्षण तथा तत्त्वज्ञ पुरुष भी विषयभोगों से निवृत्त होकर परम पुरुषार्थ में संलग्न हो।

टिप्पणी–चित्त बंदर के समान चंचल है। मन का वेग वायु के समान है। संयम में सतत जागृति एवं हार्दिक वैराग्य रखना ये दोनों उसकी लगामें हैं। लगामें ढीली होने लगें तो तुरन्तही चिन्तन द्वारा उन्हें पुनः खींचे।

मानसिक चिन्तन के साथ ही साथ यथाशक्य शारीरिक संयम की भी आवश्यकता है–इस सत्य को कभी भी भूल न जाना चाहिये।

शरीर, प्राण, और मन इन तीनों पर काबू रखने से इच्छाओं का निरोध होता है और शांति की उपासना (साधना सिद्धि) होती रहती है। ज्यों २ रागद्वेषका क्रमशः क्षय होता जाता है त्यों २ आनंद का साक्षात्कार होता जाता है।

ऐसा मैं कहता हूं:–

इस तरह 'श्रामण्यपूर्वक' नामक दूसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

क्षुल्लकाचार

—::०::—

(लघु आचार)

२

त्याग, व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकासमें जितना सहायक होता है उतना ही समाज, राष्ट्र और विश्वको भी प्रत्यक्ष किंवा परोक्ष रूपमें उपकारक होता है।

जिस समाज में आदर्श त्याग की पूजा होती है वह समाज निःस्वार्थी, संतोषी एवं प्रशान्त अवश्य होगी। उसकी निःस्वार्थता राष्ट्रकी पीड़ित प्रजाको आश्वासन दे सकेगी और उसकी शांति के आंदोलन विश्वभरमें शांतिका प्रचार करेंगे।

इसी कारण, जिस देशमें त्यागकी महत्ता है वहां सुख का सागर हिलोरे मारकर बहता है। उस सागर के शांत प्रवाहों में वैरियों के वैमनस्य लय हो जाते हैं और विरोधक शक्तियों के प्रचंड बल भी धीमे २ शांत पड़ जाते हैं।

किन्तु जिस देश की प्रजामें भोगवासना का ही प्राधान्य है उस देशमें धन होने पर भी. स्वार्थ, मदांधता, राष्ट्रद्रोह, इत्यादि शांतिके शत्रुओंका राज्य छाए बिना न रहेगा जिसका परिणाम आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, कभी न कभी उस राष्ट्रकी शांति के नाश के रूपमें परिणत हुए बिना न रहेगा। सारांश यह है कि आदर्श

त्यागमें ही विश्वशांति का मूल है और वासनाओं का पोषण ही विश्व की अशांति कारण है।

आदर्श त्याग के लिये तो त्याग ही जीवन है। उस सुन्दर जीवन में साम्प्रदायिकता का विष न मिलने पावे, अथवा जीवन कलुषित न होने पावे उसके लिये साधक दशामें त्यागी को खूब ही सावधान रहना पड़ता है। इस कारण उस सावधानता एवं व्यवस्थाको बनाये रखने के लिये ही आध्यात्मिक दर्दों के महान चिकित्सक महर्षि देवों ने गहरे मनोमंथन के बाद साधुता के संरक्षण के लिये सूक्ष्म से लेकर बडे से बडे आकार के ५२ अनाचीर्ण (निषेधात्मक) नियम बताये हैं जिनका वर्णन इस अध्याय में बडी सुन्दर रीति से किया गया है।

गुरुदेव बोले :—

[१] जिनकी आत्मा संयम में सुस्थिर हो चुकी है, जो सांसारिक वासनाओं अथवा आन्तरिक एवं बाह्य परिग्रहों से मुक्त हैं, जो अपनी तथा दूसरों की आत्माओं को कुमार्ग से बचा सकते हैं, अथवा जो छकाय (यावन्मात्र प्राणियों) के रक्षक हैं, और जो आंतरिक ग्रंथी (गांठों) से रहित हैं उन महर्षियों के लिये जो अनाचीर्ण (न आचरने योग्य) हैं वे इस प्रकार है :—

टिप्पणी–स्त्री, धन, परिवार इत्यादि बाह्य परिग्रह हैं और क्रोधादि आत्मदोष आंतरिक परिग्रह हैं। गाथामें आये हुए त्रायी शब्दका अर्थ 'रक्षक' है।

छकायमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस (चलते फिरते प्राणी) इस प्रकार समस्त जीवों का समास हो जाता है।

[२] ५२ प्रकार के अनाचीर्णों के नाम यथाक्रम इस प्रकार हैं:— (१) औद्देशिक (अपने को उद्देश करके अर्थात् खास निज के लिये बनाये हुए भोजन को यदि साधु ग्रहण करे तो उसको यह दोष लगता है), (२) क्रीतकृत (साधुके निमित्त ही खरीद कर लाये हुए भोजन को ग्रहण करना), (३) नित्यक (हमेशा एक ही घर से, जो आमंत्रण दे जाता हो वहां आहार लेना), (४) अभिहृत (अमुक दूरीसे साधु के लिये उपाश्रयादि स्थानमें लाए गये आहार को लेना), (५) रात्री-भुक्ति (रातमें भोजन करना), (६) स्नान करना, (७) चंदन आदि सुगंधी पदार्थों का उपयोग करना, (८) पुष्पों का उपयोग करना, (९) पंखा से हवा करना;

टिप्पणी—भोजन का निमंत्रण लेनेमें अपना निमित्त होजाने की पूरी संभावना है इसीलिये शास्त्रीय दृष्टि से उस आहार को साधुके लिये वर्ज्य कहा है।

[३] (१०) संनिधि (अपने अथवा दूसरे किसी के लिये घी, गुड़, अथवा अन्य कोई प्रकार का आहार रात्रिमें संग्रह कर रखना), (११) गृहिपात्र (गृहस्थ के पात्रों-बर्तनों-में आहारादि करना), (१२) राजपिंड (धनिक लोग अपने लिये बलिष्ठ औषधि आदि डालकर पुष्टिकारक भोजन बनाते हैं ऐसा जानकर उस भोजन को ग्रहण करने की इच्छा करना), (१३) किमिच्छक (आपको कौनसा भोजन रुचिकर है, अथवा आप क्या खाना चाहते हैं, ऐसा पूछकर बनाया गया भोजन अथवा दानशाला का भोजन ग्रहण करना), (१४) संबाहन (अस्थि, मांस, त्वचा, रोम इत्यादि को सुख देनेवाले तैल आदि का मर्दन कराना), (१५) दंत प्रधावन (दांतौन करना), (१६) संप्रश्न (गृहस्थों के शरीर अथवा उनके गृहसंबंधी कुशलक्षेम समाचार पूछना और उस वार्तालाप

में अत्यधिक रस लेना), (१७) देहप्रलो कन (दर्पण अथवा अन्य ऐसे ही साधन द्वारा अपने शरीर की शोभा देखना)

टिप्पणी—बलिष्ठ (पुष्टिकारक) आहार करने से शरीर में विकारों के जागृत हो जाने की संभावना रहती है और विकारों के बढने से संयम में क्षति होने का डर रहता है, इसीलिये पुष्टिकर भोजन ग्रहण करने का खास निषेध किया गया है। दानशाला का आहार लेने से दूसरे याचकों को दुःख होने की संभावना है इसीलिये उसे वर्ज्य है।

[४] (१८) अष्टापद (जुआ खेलना), (१९) नालिका (शतरंज आदि खेल खेलना), (२०) छत्र धारण करना, (२१) चिकित्सा (हिंसा निमित्तक औषधोपचार कराना), (२२) पैरों में जूते पहिरना, (२३) अग्नि जलाना।

टिप्पणी—'नालिका' यह प्राचीन समय का एक प्रकार का खेल है किंतु यहां इस शब्दसे चौपट, गंजीफा (ताश), शतरंज आदि सभी खेलों से आशय है। ये सभी प्रकार के खेल साधु के लिये वर्ज्य हैं क्योंकि उनसे अनेक दोष लगने की संभावना है।

[५] (२४) शय्यातरपिंड (जिस गृहस्थने रहने के लिये आश्रय दिया हो उसी के यहां भोजन लेना), (२५) आसंदी (मूंढा एवं पलंग आदि का उपयोग), (२६) गृहान्तर निषद्या (दो घरों के बीचमें अथवा गृहस्थ के घर बैठना), (२७) शरीर का उद्वर्तन करना (उबटन आदि लगाना)

टिप्पणी—जिस गृहस्थकी आज्ञासे साधु उसके मकान में ठहरा हो उसके घर के अन्न जल को वर्ज्य इसलिये कहा है कि वह गृहस्थ साधु को अभ्यागत समझकर उसके निमित्त भोजन बनवायेगा और इस कारण से वह भोजन औद्देशिक होने से दूषित हो जायगा।

आसंदी—यह हिंडोला या झूला अथवा सांगामांची जैसा गृहस्थ का होता है। ऐसे स्थानों पर बैठने से प्रमादादि दोषों की संभावना है।

दो घरों के बीचमें बैठने से उन घरों के आदमी, संभव है, उसे चोर मानलें।

रोगी, अशक्त, अथवा तपस्वी साधु यदि अपने शरीर की अशक्ति के कारण किसी गृहस्थ के यहां बैठे तो उसे इस बातकी छूट है। उक्त कारण के सिवाय अन्य किसी भी कारण से मुनि गृहस्थ के यहां न बैठे। इसका कारण यह है कि गृहस्थ के यहां बैठने उठने से परिचय बढने की और उस बढे हुए परिचय के कारण संयमी जीवनमें विक्षेप होने की पूरी २ संभावना है।

[६] (२८) वैयावृत्य (गृहस्थ की सेवा करना अथवा उससे अपनी सेवा कराना), (२६) जातीय आजीविक वृत्ति (अपना कुल अथवा जाति बताकर भिक्षा लेना), (३०) तप्तानिवृत-भोजित्व (सचित्त जल का ग्रहण), (३१) आतुरस्मरण (रोग किंवा क्षुधा की पीडा होने पर अपने प्रिय स्वजन का नाम ले २ कर स्मरण करना अथवा किसी की शरण मांगना)

टिप्पणी—यहां 'सेवा' शब्दका आशय अपना शरीर दबवाना, मालिश कराना आदि क्रियाओं के कराने का है। निष्कारण ऐसी सेवाएं कराने से आलस्यादि दोषों के होने की संभावना है। बर्तन के ऊपर, मध्य और नीचे-इन तीनों भागों में जो पानी खूब तपा हो उसे 'अचित्त' पानी कहते हैं।

[७] (३२) सचित्त मूली, (३३) सचित्त अदरख, और (३४) सचित्त गन्ना, ग्रहण करना। इसी प्रकार (३५) सचित्त सूरण आदि कंदों को, (३६) सचित्त *जडीबूटियों को, (३७) सचित्त फलों को, और (३८) सचित्त बीजों को ग्रहण करना।

* कई एक वस्तुएं ऐसी हैं जिनका सामान्यरूपसे सचित्त संबंधी निर्णय नहीं किया जा सकता। इस संबंध में सचित्त-अचित्त निर्णायक कमिटी का निर्णय कान्फरेंस रिपोर्ट में छपा है, उसे देख लेवें।

टिप्पणी–जिसमें जीव होता है उसे 'सचित्त' कहते हैं और जीवरहित 'अचित्त' कहते हैं। एक जाति में दूसरी जाति की वस्तु मिला देने से अथवा पकाने से दोनों वस्तुएं अचित्त हो जाती हैं।

[८] (३९) खान का संचल, (४०) सैंधव नमक, (४१) सामान्य नमक, (४२) रोम देश का नमक, (रोमक), (४३) समुद्र का नमक (४४) खारा (पांशु लवण) तथा (४५) काला नमक आदि अनेक प्रकार के नमक यदि सचित्त ग्रहण किये जांय तो दूषित हैं।

[९] (४६) धूपन (धूप देना अथवा बीड़ी आदि पीना), (४७) वमन (औषधों के द्वारा उल्टी करना), (४८) बस्तिकर्म (गुह्य स्थान द्वारा बलिष्ट औषधियों को शरीर में प्रविष्ट करना अथवा हठ-योग की क्रियाएं करना), (४९) विरेचन (निष्कारण जुलाब लेना), (५०) नेत्रों की शोभा बढाने के लिये अंजन आदि लगाना, (५१) दांतों को रंगीन बनाना, (५२) गात्राभ्यंग (शरीर की टीपटाप करना अथवा शरीर को सजाना)

टिप्पणी–'धूपन' शब्द का अर्थ वस्त्रादिक को धूप देना भी होता है। खूब खाजाने पर उसे औषधियां द्वारा उल्टी अथवा जुलाब द्वारा निकाल डालने का प्रयत्न करना भी दूषण है इसी आशयसे वमन एवं विरेचन इन दोनों का निषेध किया है।

[१०] संयम में संलग्न एवं द्रव्य (उपकरण) से तथा भाव (क्रोधादि कषायों) से हलके निर्ग्रंथ महर्षियों के लिये उपर्युक्त ५२ प्रकार की क्रियाएं अनाचीर्ण (न आचरने योग्य) हैं।

[११] उपर्युक्त अनाचीर्णों से रहित; पांच आस्रवद्वारों के त्यागी; मन, वचन, और काय इन तीन गुप्तियों से गुप्त (संरक्षित); छकाय के जीवों के प्रतिपालक (रक्षक) पंचेन्द्रियों का दमन करनेवाले, धीर एवं सरल स्वभावी जो निर्ग्रंथ मुनि होते हैं।

टिप्पणी–मिथ्यात्व (अज्ञान), अव्रत, कषाय, प्रमाद और अशुभ योग इन ५ प्रकारों से पापों (कर्मों) का आगमन होता है इसलिये इन्हें 'आस्रव द्वार' कहते हैं।

[१२] वे समाधिवंत संयमी पुरुष ग्रीष्म ऋतुमें उग्र आतापना (गर्मी का सहना) सहते हैं। हेमंत (शीत) ऋतु में वस्त्रों को अलग कर ठंडी सहन करते हैं और वर्षाऋतु में मात्र अपने स्थानमें ही अंगोपांगों का संवरण (रोककर) कर बैठे रहते हैं।

टिप्पणी–साधुजन तीनों ऋतुओं में शरीर और मन को दृढ बनाने के लिये भिन्न २ प्रकार की तपश्चर्याएं किया करते हैं। अहिंसा, संयम, और तपकी त्रिपुटी की आराधना करना यही साधुता है और भिन्न २ ऋतुओं में कष्ट पडने पर भी उसका प्रतीकार न करने में ही साधुत्व की रक्षा है।

[१३] परिषह (अकस्मात आने वाले संकटों) रूपी शत्रुओं को जीतनेवाले, मोह को दूर करनेवाले और जितेन्द्रिय (इन्द्रियों के विषयों को जीतनेवाले) महर्षि सब दुःखों का नाश करने के लिये संयम एवं तपमें प्रवृत्त होते हैं।

[१४] और उनमें से बहुत से साधु महात्मा दुष्कर तप करके और अनेक असह्य कष्ट सहन करके उच्च प्रकार के देवलोक में जाते हैं और बहुत से कर्म रूपी मल से सर्वथा मुक्त होकर सिद्ध (सिद्ध पदवी को प्राप्त) होते हैं।

[१५] (जो देवगति में जाते हैं वे संयमी पुरुष पुनः मृत्युलोक में आकर) छकाय के प्रतिपालक होकर संयम एवं तपश्चर्या द्वारा पूर्वसंचित समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धिमार्ग का आराधन करते हैं और वे क्रमशः निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी–जीवनपर्यंत अपने निमित्त (कारण) से किसी को दुःख न पहुंचे वैसी जागृत वृत्ति से रहना और निरंतर साधना करते रहना यही श्रमणधर्म का शुद्ध ध्येय है।

उस ध्येयको निबाहने के लिये अपरिग्रह बुद्धि, आहार शुद्धि, गृहस्थ जीवन की आसक्तिसे अपनी साधुता का संरक्षण, भोजन में परिमितता और रसासक्ति का त्याग–आदि सभी कायिक संयम के नियम हैं। जिस तरह मानसिक एवं वाचिक संयम आवश्यक हैं उसी तरह कायिक संयम की भी आवश्यकता है क्योंकि कायिक संयम ही मानसिक एवं वाचिक संयम की नींव है। उसको मजबूत रखने में ही साधुता रूपी मंदिर की सुरक्षा है और साधुजीवन जितना ही अधिक स्वावलंबी एवं निःस्वार्थी बनेगा उतना ही वह गृहस्थ जीवन के लिये उपकारक है।

ऐसा मैं कहता हूं:–

इस प्रकार 'क्षुल्लकाचार' संबंधी तीसरा अध्ययन समाप्त हुआ।

षड् जीवनिका

—(०)—

(समस्त विश्व के छ प्रकार के जीवों का वर्णन)

४

गद्य विभाग

भोग की वासनामें से तीव्रता मिटकर उस तरफ की इच्छा के वेगके मंद पडजाने का नाम ही वैराग्य है।

वह वैराग्य दो प्रकार से पैदा होता है; (१) विलास के अतिरेक से प्राप्त हुए मानसिक एवं कायिक संकट से, और (२) उसमें (पदार्थ में अभीप्सित) इष्ट तृप्ति के अभाव का अनुभव। इन कारणों में से वह या तो स्वयं जागृत होजाता है और कभी २ उसकी जागृति में किसी प्रबल निमित्त की प्रेरणा भी मिल जाती है।

यह वैराग्यभावना विवेकबुद्धि को जागृत करती है और तब से वह साधक चलने में, उठने में, बोलने में, बैठने में, आदि छोटी से छोटी और बडी से बडी क्रिया में उसकी उत्पत्ति, हेतु और उसके परिणाम का गहरा चिंतन करनेका अभ्यास करने लगता है।

इस स्थिति में वह अपनी आवश्यकताओं को घटाता जाता है और आवश्यकताओं के घटने से उसका पाप भी घटने लगता है। इसी को ज्ञानपूर्वक संयम कहते हैं।

उस संयम की प्राप्ति होने के बाद ही त्याग की भूमिका तैयार होती है। जब वह साधक प्रत्येक पदार्थ की उपरसे अपने स्वामित्व भाव को छोड देता है और जब वह अपने जीवन को फूल जैसा हलका बना लेता है तभी उसको जैन श्रमण की योग्यता प्राप्त होती है।

वैसी योग्यता प्राप्त होने के बाद वह स्वयं किसी प्रौढ, मेधावी, समयज्ञ एवं समभावी गुरुको ढूंढ लेता है तथा श्रमणभावकी आराधना के लिये गृहस्थका स्वांग छोडकर दीक्षा ग्रहण कर लेता है और श्रमणकुल में प्रविष्ट होता है।

श्रमणकुल में प्रविष्ट होने के पहिले गुरुदेव शिष्यके मानस (हृदय) की संपूर्ण चिकित्सा करते हैं और साधक की योग्यता देखकर त्यागधर्म की जवाबदारी (उत्तरदायित्व) का उसे भान कराते हैं। उसे श्रमणधर्मका बोध पूर्ण यथार्थ रहस्य समझाकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह–इन पांचों महाव्रतों के संपूर्ण पालन तथा रात्रिभोजन के सर्वथा त्याग की कठिन प्रतिज्ञायें लिवाते है। इन प्रतिज्ञाओं का उसे आजीवन पालन करना पडता है। वह आत्मार्थी साधक भी विवेकपूर्वक प्रतिज्ञाओं को स्वीकार करता है और उसके बाद अपने संयमी जीवन को निभाते हुए भी पृथ्वी से लेकर वनस्पति काय तकके स्थिर जीवों, छोटे बड़े चर जन्तुओं तथा अन्य प्राणियों की रक्षा कैसे करता है इसका सविस्तर वर्णन इस अध्ययन में किया है।

गुरुदेव बोले :–

सुधर्म स्वामीने अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी को लक्ष्य कर यह कहा था:–हे आयुष्मन् जंबू ! मैंने सुना है कि षड्जीवनिका नामक एक अध्ययन है, उसे काश्यप गोत्रीय श्रमण तपस्वी भगवान महावीरने कहा है। सचमुच ही उन प्रभुने इस लोक में उस

षट्जीवनिका की प्ररूपणा की है, सुंदर प्रकार से उसकी प्रसिद्धि की है और सुन्दर रीतिसे उसको समझाया है।

शिष्यने पूछाः–क्या उस अध्ययन को सीखने में मेरा कल्याण है?

गुरुने कहाः–हां, उससे धर्म का बोध होता है।

शिष्यने पूछाः–हे गुरुदेव! वह षट्जीवनिका नामका कौनसा अध्ययन है जिसका काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान महावीर प्रभुने उपदेश किया है, जिसकी प्ररूपणा एवं प्रसिद्धि की है और जिस अध्ययन का पठन करने से मेरा कल्याण होगा? जिससे मुझे धर्मबोध होगा ऐसा वह अध्ययन कौनसा है?

गुरुने कहाः–हे आयुष्मन्! सचमुच यह वही षट्जीवनिका नामका अध्ययन है जिसका काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान महावीरने उपदेश किया है, प्ररूपित किया है और समझाया है। इस अध्ययन के सीखने से स्व कल्याण एवं धर्मबोध भी होगा। यह अध्ययन इस प्रकार है: (अब छकाय के जीवों के नाम पृथक् पृथक् गिनाते हैं) (१) पृथ्वीकाय संबंधी जीव, (२) अप्काय संबंधी जीव, (३) अग्निकाय संबंधी जीव, (४) वायुकाय संबंधी जीव, (५) वनस्पतिकाय संबंधी जीव और (६) त्रसकाय संबंधी जीव।

टिप्पणीः–जिन जीवों का दुःख प्रत्यक्ष न देखा जा सके किन्तु अनुमान से जाना जा सके और जो चलता फिरता न हो (स्थिर रहता हो) उनको 'स्थावर जीव' कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति काय के जीव 'स्थावर जीव' कहे जाते हैं। जो जीव अपने सुख दुःख को प्रकट करते हैं और जिनमें चलने फिरने की शक्ति है, उन जीवों को 'त्रस जीव' कहते हैं।

[१] पृथ्वीकायमें अनेक जीव होते हैं। पृथ्वीकाय की जुदी जुदी संख्याओं में भी बहुत से जीव हुआ करते हैं। पृथ्वी कायिक

जीव को जबतक अग्निकायिक इत्यादि दूसरी (पृथ्वीकायिक के सिवाय और कोई दूसरी) जाति का शस्त्र न परिणमे (लगे) तबतक पृथ्वी सचित्त (जीवसहित) कहलाती है। पृथ्वीकायिक जीवों का नाश अग्निकायिक आदि जुदी जातिके जीवों द्वारा हो जाता है।

[२] पानीकी एक बूंदमें असंख्य (संख्या का वह बड़ा परिमाण जो अंकों द्वारा प्रकट न किया जा सके) पृथक् २ जीव होते हैं। उनको जबतक अग्निकायिक इत्यादि दूसरी (जलकायिक जीव के सिवाय और कोई दूसरी) जाति का शस्त्र न परिणमे (लगे) तबतक जल सचित्त कहलाता है किन्तु अन्य जातीय जीवों के साथ संपर्क होते ही उनका नाश हो जाता है और कुछ काल तक वे अचित्त (जीवरहित) ही रहते हैं।

टिप्पणी–शास्त्रमें एक जाति के जीवों को दूसरी जाति के जीवों के लिये 'शस्त्र' कहा है। अर्थात् जिसतरह शस्त्र द्वारा मनुष्यों का नाश होता है उसी तरह परस्पर विरोधी स्वभाव के जीव एक दूसरे का 'शस्त्र' के समान नाश करते है जैसे अग्निकायिक जीव जलकायिक जीवों के लिये शस्त्र (अर्थात् नाशक) हैं उसी तरह जलकायिक जीव अग्निकायिक जीवों के लिये भी शस्त्र हैं। इसी दृष्टिसे ग्रंथ में 'नाश करने की क्रिया' का उल्लेख न कर स्वयं उनको गुणधर्मानुरूप 'शस्त्र' कहा है।

आधुनिक विज्ञानने यह सिद्ध कर दिया है कि जल की एक बूंद में बहुतसे सूक्ष्म जन्तु होते हैं। जो बात पहिले केवल अनुमान अथवा कल्पना मानी जाती थी वह आज सूक्ष्मदर्शक यंत्र (Microscope) द्वारा प्रत्यक्ष सत्य सिद्ध हो चुकी है।

[३] अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी में अग्निकायिक असंख्य जीव रहते हैं। उनको जबतक जलकायिक इत्यादि दूसरी

(अग्निकायिक जीव के सिवाय और कोई दूसरी) जाति का शस्त्र न परिणमे (लगे) तबतक अग्नि सचित्त कहलाती है किन्तु अन्य जातीय जीवों के साथ संपर्क होते ही उनका नाश हो जाता है और उनके जीवरहित हो जाने से अग्नि 'अचित्त' कहलाती है।

[४] वायु कायमें भी पृथक् २ अनेक जीव होते है और जबतक उनका अन्य जातीय जीव के साथ संपर्क न हो तबतक वह सचित्त रहती हैं किन्तु वैसा संपर्क होते ही वह अचित्त हो जाती है।

टिप्पणी-पंखा (बीजना) आदि द्वारा हवा करने से वायुकायिक जीवों का नाश होता है इसलिये उसे वायु का 'शस्त्र' कहा गया है। खास ध्यान देने की बात यह है कि इन पांचों प्रकार के स्थावर जोवों को पुनः पुनः 'काय' कहा गया है, जैसे पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय वायुकाय वनस्पतिकाय। 'काय' शब्द का वार २ अर्थ 'समूह' होता है। उक्त पांचों प्रकारों के साथ 'काय' शब्द का। व्यवहार कर आचार्यों ने इस गूढार्थ की तरफ निर्देश किया है कि ये जीव सदैव समूह रूप में-संख्या में असंख्य-ही रहा करते है। ये असंख्य जीव एक ही साथ एक ही शरीर में जन्म धारण करते हैं और एक ही साथ मृत्यु को भी प्राप्त होते हैं। ये पांचों प्रकार के जोव, जहां कहीं भी, जिस किसी भी रूपमें रहेंगे वहां संख्या में अनेक ही होंगे। वनस्पतिकायिक जीव को छोड़कर पृथ्वीकायिक आदि एक जीव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता। वनस्पति कायके जीव दो प्रकार के होते हैं (१) प्रत्येक और (२) साधारण। प्रत्येक वनस्पति में शरीरका मालिक एक ही जीव होता है किंतु साधारण वनस्पति के शरीर में असंख्य जीव होते हैं। द्वींद्रियादि जीवों में यह बात नहीं है। वे प्रत्येक जीव अपने शरीरका स्वतंत्र मालिक है उसके जीवके आधार पर रहने वाला और कोइ दूसरा त्रस जीव नहीं होता।

[५] वनस्पति काय में भी भिन्न भिन्न शरीरों में संख्यात, असंख्यात और अनंत जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व होता है और उनसे जबतक अग्नि, लवण (नमक) आदि से संपर्क न हो तबतक वह सचित्त रहती है किन्तु उनका संपर्क होने पर वह अचित्त हो जाती है।

वनस्पति के भेदः—

(१) अग्रबीजा वनस्पति–वह वनस्पति जिस के सिरे पर बीज लगता हैं, जैसे कोरंट का वृक्ष, (२) मूलबीजा वनस्पति–वह वनस्पति जिसके मूल में बीज लगता है जैसे कंद आदि। (३) पर्वबीजा वनस्पति–यह वह वनस्पति है जिसकी गांठों में बीज पैदा होता है जैसे गन्ना आदि। (४) स्कंध बीजा वनस्पति–जिसके स्कंधों (जोड़ों) में बीजों की उत्पत्ति होती है जैसे वड, पीपल, गूलर आदि। (५) बीजरूहा वनस्पति–वह वनस्पति, जिसके बीजमें बीज रहता हो जैसे चौवीस प्रकार के अन्न, (६) सम्मूर्छिम वनस्पति–जो वनस्पति स्वयमेव पैदा होती है अंकुर आदि। (७) तृण आदि, (८) बेल–चंपा, चमेली, ककड़ी, खरबूजा, तरबूज आदि की बेलें। इत्यादि प्रकार के बीजों वाली वनस्पति में पृथक् २ अनेक जीव रहते हैं और जब तक उनको विरोधी जातिका शस्त्र न लगे तबतक वे वनस्पतियां सचित्त रहती हैं।

त्रसकाय जीवों के भेदः—

चलते फिरते त्रस (द्वीन्द्रियादिक) जीव भी अनेक प्रकार के होते हैं। इन–जीवों के उत्पन्न होने के मुख्यतया आठ स्थान (प्रकार) हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं:—(१) अंडज–वे त्रसजीव, जो अंडों से पैदा होते हैं जैसे पक्षी आदि; (२) पोतज–वे त्रसजीव, जो अपने जन्म के समय चर्म की पतली चमडी से लिपटे रहते हों जैसे हाथी आदि। (३) जरायुज–वे त्रसजीव, जो अपने जन्म के समय जरा से

लिपटे रहते हैं, जैसे मनुष्य, गाय, भैंस आदि; (४) रसज-रसके बिगड़ने से उत्पन्न होने वाले द्वीन्द्रियादिक जीव; (५) स्वेदज-पसीने से उत्पन्न होनेवाले जीव; जैसे जूं खटमल आदि; (६) सम्मूर्छिम-वे त्रसजीव जो स्त्रीपुरुष के संयोग के बिना ही उत्पन्न हो जाय; जैसे मक्खी; चींटी-चींटा; भौंरा, आदि। (७) उद्भिज-पृथ्वी को फोड़कर निकलने वाले जीव, जैसे तीड, पतंग आदि। (८) औपपातिक-गर्भ में रहे बिना ही जो स्थान विशेष में पैदा हो जैसे देव एवं नारकी जीव।

अब उनके लक्षण बताते हैं:—

जो प्राणी सामने आते हों, पीछे खिसकते हों, संकुचित होते हों, विस्तृत (फूल) जाते हों, शब्दोच्चार (बोलते) हों। भयभीत होते हों, दुःखी होते हों, भाग जाते हों, चलते फिरते हों तथा अन्य क्रियाएं स्पष्ट रूपसे करते हों उन्हें त्रसजीव समझना चाहिये।

अब उनके भेद कहते हैं:—कौड़ी कीड़ा, कुंथु आदि द्वीन्द्रिय जीव हैं; चींटी-चींटा आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं; पतंग, भौंरा आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं और तिर्यंच योनिके समस्त पशु, नारकी, मनुष्य और देवता ये सब पंचेंद्रिय जीव हैं।

उपरोक्त जीव तथा समस्त परमाधार्मिक (नरकयोनिमें नारकियों को दुख देनेवाले) देव भी पंचेन्द्रिय होते हैं और इन सब जीवों के इस छठे जीवनिकाय को 'त्रस' नाम से निर्दिष्ट किया है।

टिप्पणी-देव शब्दमें समस्त देवों का समास हो जाता है किन्तु 'परमाधार्मिक' देवों का खास निर्देश करने का कारण यही है किये देव नरक निवासी होते हैं। नरकमें भी देव होते हैं और ये पंचेन्द्रिय होते हैं इसकी तरफ निर्देश करने के लिये ही इसका उल्लेख किया है।

ये समस्त प्रकार के जीव सुख ही चाहते हैं इसलिये साधु इन छहों जीवनिकायों में से किसी पर भी स्वयं दंड आरंभ न करे (स्वयं इनकी विराधना न करे); दूसरों से इनकी विराधना न करावे और जो कोई आदमी इनकी विराधना करता हो तो उसका वचनों द्वारा अनुमोदन तक भी न करे।

ऊपर की प्रतिज्ञा का उल्लेख जब गुरुदेव ने किया तब शिष्यने कहाः—हे भगवन्! मैं भी अपने जीवन पर्यंत मन वचन, और काय इन तीन योगों से हिंसा नहीं करूंगा, दूसरों द्वारा नहीं कराऊंगा और यदि कोई करता होगा तो मैं उसकी अनुमोदना भी नहीं करूंगा।

और हे भदंत। पूर्व काल में किये हुए इस पाप से मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षी पूर्वक मैं उस पापकी निंदा करता हूं। आप के समक्ष मैं उस पापकी अवगणना करता हूं और अबसे मैं ऐसे पापकारी कर्मसे अपनी आत्माको सर्वथा निवृत्त करता हूं।

महाव्रतों का स्वरूप

शिष्यने पूछाः—हे गुरुदेव! प्रथम महाव्रत में क्या करना होता है?

गुरुने कहाः—हे भद्र! पहिले महाव्रत में जीव हिंसा (प्राणातिपात) से सर्वथा विरक्त होना पड़ता है।

शिष्यः—हे भगवन्! मैं सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूं।

गुरुदेवः— जीव चार प्रकार के होते हैं: (१) सूक्ष्म (अत्यंत बारीक जो दिखाई न दें, निगोदिया आदि); (२) बादर (स्थूल शरीरवाले जीव अर्थात् जो दिखाई देते हों); (३) त्रस (चलते

फिरते जीव); तथा (४) स्थावर (पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के जीव।

इन प्राणियों का अतिपात (घात) नहीं करना चाहिये, दूसरें के द्वारा कराना नहीं चाहिये और घात करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करना चाहिये।

शिष्यः–हे गुरुदेव! जीवनपर्यंत मैं उक्त तीन प्रकार के करणों और तीनों योगों से (अर्थात् मन, वचन और काय से) हिंसा नहीं करूंगा, नहीं कराऊंगा और हिंसा करनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करूंगा और पूर्वकाल में मैंने जो कुछ भी हिंसा द्वारा पाप किया है उससे मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्मा की साक्षी पूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं; आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कामसे अपनी आत्मा को सर्वथा विरक्त करता हूं। हे पूज्य! इस प्रकार प्रथम महाव्रत के विषय में मैं प्राणातिपात (जीवहिंसा) से सर्वथा निवृत्त होकर सावधान हुआ हूं॥ १॥

शिष्यः–हे भगवन्। अब दूसरे महाव्रत में क्या करना होता है?

गुरुदेवः–हे भद्र! दूसरे महाव्रत में मृषावाद (असत्य भाषण) का सर्वथा त्याग करना पड़ता है।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं सर्व प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्यागकी प्रतिज्ञा) लेता हूं।

गुरुदेवः–हे भद्र! क्रोधसे, मानसे, मायासे अथवा लोभसे स्वयं असत्य न बोलना चाहिये दूसरों से असत्य न बुलवाना चाहिये और असत्य बोलनेवाले की अनुमोदना भी न करनी चाहिये।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं जीवनपर्यंत उक्त तीन करणों (कृत, कारित और अनुमोदन) तथा तीन योगों (मन, वचन एवं काय)

से असत्यभाषण नहीं करूंगा; दूसरों से असत्यभाषण कराऊंगा नहीं और असत्य-भाषी की अनुमोदना भी नहीं करूंगा और पूर्व कालमें मैंने जो कुछ भी असत्य भाषण द्वारा पाप किया है उससे मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं; आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कामसे अपनी आत्मा को सर्वथा विरक्त करता हूं॥ २ ॥

शिष्यः-हे गुरुदेव! तीसरे महाव्रत में क्या करना होता है?

गुरुदेवः-हे भद्र! तीसरे महाव्रत में अदत्तादानका सर्वथा त्याग करना पडता है।

शिष्यः-हे पूज्य! मैं अदत्तादान (विना हक की अथवा विना दी हुई वस्तुका ग्रहण) का सर्वथा त्याग करता हूं।

गुरुदेवः-गांव में, नगर में, अथवा वन में किसी भी जगह थोडी हो या अधिक; छोटी वस्तु हो या बडी; सचित्त (पशु, मनुष्य, इत्यादि सजीव वस्तु) हो या अचित्त, उसमेंसे विना दी हुई किसी भी वस्तुको स्वयं ग्रहण न करना चाहिये न दूसरों द्वारा ग्रहण कराना चाहिये और न वैसे ग्रहण करनेवाले की प्रशंसा ही करनी चाहिये।

शिष्यः-हे पूज्य! मैं जीवनपर्यंत उक्त तीनों करणों (कृत, कारित, अनुमोदन) तथा तीनों योगोंसे चोरी (अदत्तादान) नहीं करूंगा, न कभी दूसरे के द्वारा कराऊंगा और न किसी चोरी करने-वाले की अनुमोदना ही करूंगा! तथा पूर्वकाल में तत्संबन्धी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ है उससे मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक पापकी निंदा करता हूं; आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कामसे अपनी आत्मा को सर्वथा विरक्त करता हूं॥ ३ ॥

शिष्यः–हे गुरुदेव! चौथे महाव्रत में क्या करना होता है?

गुरुः–हे भद्र! चौथे महाव्रत में मैथुन (व्यभिचार) का सर्वथा त्याग करना पड़ता है।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं मैथुनका सर्वथा त्याग करता हूं।

गुरुः–देव संबंधी, मनुष्य संबंधी या तिर्यंच संबंधी इन तीनों जातियों में किसी के भी साथ स्वयं मैथुन नहीं करना चाहिये, दूसरों द्वारा मैथुन सेवना कराना न चाहिये और न मैथुन सेवन की अनुमोदना ही करनी चाहिये।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं जीवन पर्यन्त उक्त तीनों करणों तथा तीनों योगोंसे मैथुन सेवन नहीं करूंगा, न कभी दूसरे के द्वारा कराऊंगा और न कभी किसी मैथुनसेवी की अनुमोदना ही करूंगा तथा पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ है उससे मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कामसे अपनी आत्माको सर्वथा विरक्त करता हूं ॥ ४ ॥

टिप्पणी–साध्वी तथा साधु इन दोनों को अपनी २ जातिके अनुसार उपरोक्त प्रकार के प्रत्याख्यान कर पालने चाहिये।

शिष्यः–हे भगवन्! पांचवें महाव्रतमें क्या करना होता है?

गुरुः–हे भद्र! पांचवें महाव्रतमें परिग्रह (यावन्मात्र पदार्थों के ऊपरसे आसक्ति भाव) का त्याग करना पड़ता है।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं सर्वथा परिग्रह का त्याग करता हूं।

गुरुः–परिग्रह थोड़ा हो या बहुत (थोड़ी कीमत का हो या अधिक कीमत का अथवा जो रत्तीसे भी हलका कौड़ी आदि तथा वजनमें भारी तथा मूल्यमें कम काष्ठादि द्रव्य), छोटा हो या बड़ा (वजन थोड़ा किन्तु मूल्य अत्यधिक हीरा जवाहरात आदि तथा वजन

बहुत और कीमत भी बहुत जैसे हाथी आदि); सचित्त (शिष्य आदि) हो या अचित्त (अजीव पदार्थ) हो, इनमें से किसी भी वस्तु का परिग्रह नहीं करना चाहिये, दूसरों द्वारा परिग्रह कराना नहीं चाहिये और परिग्रही की अनुमोदना भी नहीं करनी चाहिये।

टिप्पणी–परिग्रह में सचित्त वस्तुओंका समावेश करने का कारण यह है कि परिग्रह का त्यागी मुनि शिष्यों को उनके मातापिता की आज्ञा बिना अपने साथ नहीं रख सकता और यदि वह वैसा करे तो उससे पांचवें महाव्रत का खंडन होता है।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं जीवन पर्यन्त उक्त तीनों करणों एवं तीनों योगों से परिग्रह ग्रहण नहीं करूंगा, दूसरों के द्वारा ग्रहण नहीं कराऊंगा और परिग्रही की कभी अनुमोदना नहीं करूंगा। तथा पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ है उससे मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कार्य से मैं अपनी आत्मा को सर्वथा अलिप्त करता हूं॥ ५॥

टिप्पणी–जब कभी भी साधुको दूसरी परिपक्व दीक्षा दी जाती है तब उसको उपरोक्त पांच महाव्रतों की जीवन पर्यन्त पालन की प्रतिज्ञाएं दिलाई जाती हैं। उस पक्की दीक्षा को छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं। इन पांचों महाव्रतों के भेद–प्रभेद सब मिलाकर २५२ होते हैं।

शिष्यः–हे भगवन्! छट्ठे व्रतमें क्या करना होता है?

गुरुः–हे भद्र! छट्ठे व्रतमें रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करना पड़ता है।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं जीवनपर्यन्त के लिये रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करता हूं।

गुरुः—अन्न, खाद्य, पेय, और स्वाद्य (मुखवास आदि) इन चारों प्रकारों के आहारों को रात्रिमें न खाना चाहिये, न दूसरों को खिलाना चाहिये और न रात्रिभोजन करनेवाले की अनुमोदना ही करनी चाहिये।

शिष्यः—हे पूज्य! मैं जीवनपर्यन्त तीन करणों एवं तीन योगों से रात्रिभोजन नहीं करूंगा, नहीं कराऊंगा और न रात्रिभोजन करनेवाले की प्रशंसा ही करूंगा। तथा पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे मैं निवृत्त होता हूं; अपनी आत्मा की साक्षीपूर्वक उस पाप की निंदा करता हूं; आपके समक्ष मैं उसको धिक्कारता हूं और उससे—उस पापकारी कामसे अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं॥ ६॥

टिप्पणी—वस्तुतः यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि उपरोक्त समस्त व्रतों का संबंध शरीर की अपेक्षा आत्मवृत्ति से अधिक है। अनादि काल से चली आई हुई दुष्टवृत्तियां निरन्तर अभ्यासके कारण जीवन के साथ इतनी अधिक हिलमिल गई हैं—एकाकार हो गई हैं कि इन प्रतिज्ञाओं का सर्वथा संपूर्ण पालन करने के लिये साधक को अपार धैर्य एवं सतत जागृति की आवश्यकता पड़ती है और इसी लिये उक्त पांचों व्रतों को 'महाव्रत' कहा है। छट्ठा व्रत भी नियम रूपसे आजीवन पालना पड़ता है और चाहे जैसा कष्ट क्यों न आ पड़े तो भी उसका पालन मुनि करता ही है। फिर भी पूर्वोक्त पांच व्रतों के समान यह उतना कठिन नहीं है, इस लिये इसकी गणना 'महाव्रत' में न कर 'व्रत' रूपमें ही की है।

जबतक उपरोक्त व्रतों का संबंध मात्र शरीर के साथ ही रहता है तबतक उनका पालन यथार्थ न होकर केवल दंभरूपमें ही समझना चाहिये। ऐसे दांभिक पालन से यथार्थ आध्यात्मिक फल की प्राप्ति नहीं हो सकती—इस बात का प्रत्येक भिक्षुक को प्रतिक्षण ध्यान रखना चाहिये।

"इस तरह उक्त पांच महाव्रतों तथा छट्ठे रात्रिभोजन त्याग रूप व्रत को अपनी आत्मा के कल्याण के लिये अंगीकार कर निर्द्वन्द्व भावसे विचरता हूं।" इस प्रकार शिष्यने गुरु के समीप जीवनपर्यन्त के लिये व्रत अंगीकार किये।

चारित्रधर्म के इस अधिकार के बाद छकाय के जीवों की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये, अर्थात् जीवनपर्यंत दयाधर्म का पूर्ण रूप से किस तरह पालन किया जाय उसकी विधिका उपदेश करते हैं।

गुरुः-संयमी, पापसे विरक्त तथा नये पापकर्मोंके बंध का प्रत्याख्यान लेनेवाला, चाहे साधु हो या साध्वी, उसको दिन या रातमें, एकाकी या साधु समूहमें, सोते या जगते हुए किसी भी अवस्थामें कभी भी पृथ्वी, दीवाल, शिला, ढेला, सचित्त धूलसहित शरीर किंवा सचित्त धूलसहित वस्त्र को हाथसे, पैरसे, लकड़ीसे, डंडेसे, उंगलीसे, लोहे की छड़ीसे, अथवा लोहेकी छड़ियों के समूहसे काटकूटना, खोदना, हिलाना (परस्पर एक दूसरे को टकराना) किंवा छेदन भेदन कराना नहीं चाहिये, न दूसरों के द्वारा वैसा कटाना, कुटाना, खुदवाना, हिलवाना अथवा छेदन भेदन कराना चाहिये और न किसीको काटते, कूटते, खुदवाते, हिलाते अथवा छेदन भेदन करते देखकर उसकी प्रशंसा (अनुमोदना) ही करनी चाहिये।

शिष्यः-हे भगवन्! मैं जीवन पर्यन्त के लिये मनसे, वचनसे और कायसे स्वयं वैसा नहीं करूंगा, दूसरों से वैसा नहीं कराऊंगा और न अनुमोदन ही करूंगा। पूर्वकाल में तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे मैं अब निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षी पूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कर्मोंसे अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं।

गुरुः–संयमी, पापसे विरक्त तथा नये पाप कर्मोंके बंधका प्रत्याख्यान लेनेवाले साधु अथवा साध्वीको दिनमें या रातमें, एकाकी या साधु समूहमें कभी भी कुँआ–तलाव के पानीको, ओसके पानीको, बर्फ, कुहरा, पाला के पानी, अथवा हरियाली पर पड़े हुए जल बिंदुओंको, वर्षाके पानीको, सचित्त पानीसे सामान्य अथवा विशेष भीगे हुए शरीर अथवा वस्त्रको, जलबिन्दुओं से भरी हुई काया अथवा वस्त्रको रगड़ना न चाहिये, उनका स्पर्श न करना चाहिये, उनको खूंदना न चाहिये, दबाना न चाहिये, पछाड़ना न चाहिये, झाड़ना न चाहिये, सुकाना न चाहिये, तपाना न चाहिये अथवा दूसरोंके द्वारा रगड़वाना, स्पर्श कराना, खुंदवाना, दबवाना, पछड़वाना, झड़वाना, सुकवाना अथवा तपवाना न चाहिये और यदि कोई उन्हें रगड़ता हो, स्पर्श करता हो, खूंदता हो, दबाता हो, पछाड़ता हो, झाड़ता हो, सुकाता हो अथवा तपाता हो तो उसकी प्रशंसा न करनी चाहिये अथवा वह ठीक कर रहा है ऐसा नहीं मानना चाहिये।

शिष्यः–हे पूज्य! मैं जीवन पर्यन्त के लिये मनसे, वचनसे, और कायसे उक्त प्रकारकी क्रियाएं स्वयं न करूंगा, न दूसरों के द्वारा कभी कराऊंगा ही और न कभी किसीको वैसा करते देखकर अनुमोदन ही करूंगा। पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे अब मैं निवृत्त होता हूं, अपनी आत्माकी साक्षी पूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कर्मसे अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं।

गुरुः–पापसे विरक्त तथा नये पापकर्मों के बंधका प्रत्याख्यान लेनेवाले संयमी साधु अथवा साध्वीको दिनमें या रातमें, एकान्तमें या साधु-समूहमें, सोते जागते किसी भी अवस्थामें कायकी अग्नि, कोयले

के अंगारों की अग्नि, बकरी आदि की लींडी की अग्नि, दीप आदि की शिखाकी अग्नि, कँडे की अग्नि, लोहे की अग्नि, उल्कापात बिजली आदि की अग्नि आदि अनेक प्रकार की अग्निओं को वायु द्वारा अधिक बढाना या बुझाना न चाहिये। उनको परस्पर इकट्ठा कर संघटन न करना चाहिये, उसपर धूल आदि डालकर उसका भेद न करना चाहिये। उसमें ईंधन लकडी डालकर उसे प्रज्वलित (बढाना) अथवा घटाना न चाहिये। उसको दूसरोंके द्वारा वायुसे न बढवावे, संघटन न करावे, धूल आदि डालकर भेद न करावे, ईंधन लकडी डलवाकर उसे अधिक प्रज्वलित अथवा बढाने की क्रिया न करावे और न उसे बुझवावे ही। यदि कोई दूसरा हवा से अग्निको बढा रहा हो, परस्परमें संघटन (इकट्ठी) करता हो, धूल द्वारा उसको छिन्नभिन्न करता हो, उसे सुलगाता अथवा प्रज्वलित कर रहा हो अथवा बुझाता हो तो वह ठीक कर रहा है ऐसा कभी न माने (अर्थात् उसकी अनुमोदना न करे)।

शिष्यः—हे पूज्य ! मैं जीवनपर्यन्त मनसे, वचनसे, और कायसे ऐसा काम न करूंगा, कराऊंगा नहीं तथा अनुमोदन भी नहीं करूंगा। पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे अब मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक उस पापकी मैं निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कर्मसे अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं ॥ १ ॥

गुरुः—पापसे विरक्त तथा नये पापकर्मों के बंध का प्रत्याख्यान लेनेवाले संयमी साधु अथवा साध्वीको, दिन में या रातमें, एकांत या साधुसमूहमें, सोते जागते या किसी भी अवस्थामें स्वच्छ सफेद चंवरों से, पंखे से, ताड के पत्ते के पंखे से, पत्ते से, पत्ते के टुकडे से, वृक्ष की शाखा से अथवा शाखा के टुकडे से, मोरपंख की

पींछी से अथवा हाथा (छोटे औघा) से, वस्त्र से अथवा वस्त्र के सिरे से, हाथ से या मुख से अपनी काया (शरीर) को गर्मी से बचाने के लिये अथवा बाह्य उष्ण पुद्गल (पदार्थ) को ठंडा करने के लिये स्वयं फूंक नहीं मारनी चाहिये अथवा पंखा से वायु नहीं करनी चाहिये और न दूसरे के द्वारा फूंक मरानी चाहिये और न किसी दूसरे को पंखे की हवा करते देखकर वह ठीक कर रहा है ऐसा मानना ही चाहिये।

शिष्यः—हे पूज्य! मैं आजीवन मनसे, वचनसे और कायसे उक्त प्रकार की क्रियाएं स्वयं न करूंगा, न दूसरों के द्वारा कभी कराऊंगा ही और न कभी किसी को वैसा करते देखकर अनुमोदन ही करूंगा। पूर्वकालमें तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे अब मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्मा की साक्षीपूर्वक उस पापकी निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कर्म से अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं ॥ १० ॥

गुरुः—पापसे विरक्त तथा नये पापकर्मों के बंध का प्रत्याख्यान लेनेवाले संयमी साधु अथवा साध्वीको, दिनमें या रातमें, एकांत में या साधुसमूहमें, सोते जागते किसी भी अवस्थामें बीजोंपर अथवा बीजोंपर स्थित वस्तुओं के ऊपर जो अंकुर हों उनपर, अथवा अंकुरों पर स्थित वस्तुओं पर, उगे हुए गुच्छों के ऊपर अथवा उगे हुए गुच्छों पर स्थित किसी वस्तु पर, कुटी पिसी किसी सचित्त वनस्पति पर अथवा उसपर अवस्थित वस्तु पर, अथवा जीवों की उत्पत्ति के योग्य किसी काष्ठ पर होकर स्वयं न जाना चाहिये, न खड़ा होना चाहिये, न बैठना चाहिये और न लेटना चाहिये और न वह कभी किसी दूसरे को उनपर चलावे, खड़ा करे, बिठावे अथवा लिटावे। और जो कोई उनपर होकर आता हो, खड़ा

होता हो, बैठता हो, अथवा लेटता हो तो वह ठीक कर रहा है ऐसा न माने।

शिष्यः--हे पूज्य! मैं जीवनपर्यन्त मनसे, वचनसे, और कायसे ऐसा काम कभी न करूंगा, दूसरों से कराऊंगा नहीं तथा दूसरों को वैसा करते देखकर उनकी अनुमोदना भी नहीं करूंगा। पूर्वकाल में तत्संबंधी मुझसे जो कुछ भी पाप हुआ हो उससे अब मैं निवृत्त होता हूं। अपनी आत्माकी साक्षीपूर्वक उस पापकी मैं निंदा करता हूं। आपके समक्ष मैं उसकी गर्हणा करता हूं और अबसे ऐसे पापकारी कर्मसे अपनी आत्माको सर्वथा अलिप्त करता हूं॥ ११॥

टिप्पणी–यहां किसी को यह शंका हो सकती है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि तथा वनस्पति जैसे सूक्ष्म जीवों को बचाने के लिये इतना अधिक भार क्यों दिया गया है? ऐसी अहिंसा इस जीवन में शक्य भी है क्या? इस प्रकार तो जीवित ही कैसे रहा जायगा?

इसका उत्तर यह है कि त्यागी जीवन वस्तुतः परम जागरूक जीवन है। इसलिये ऐसे जागरूक साधक ही संपूर्ण त्याग के अधिकारी हैं–ऐसा जैनदर्शन मानता है। जो साधक प्रतिक्षण इतना जागृत रहेगा उसके लिये तो यह बात लेशमात्र भी असाध्य नहीं है किंवा अशक्य भी नहीं है। त्यागी के लिये तो वह सुसाध्यही है इसीलिये तो उसके लिये ये कठिन नियम रक्खे गये हैं। गृहस्थ जीवनमें निसंदेह यह बात असाध्य जैसी है तभी तो उसके लिये अहिंसा की व्याख्या भी बडी ही मर्यादित रक्खी गई है और उसके लिये उतना ही त्याग कहा गया है जितना उसके लिये सुसाध्य है।

जितनी दुःखकी भावना अथवा जितना दुःखका संवेदन किसी महाप्राणी को होता है उतना ही संवेदन सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणी को भी होता है इसी कारण अहिंसा के संपूर्ण पालन की प्रतिज्ञा करनेवाले भिक्षुक ही उसे संपूर्णता से पालते हैं और इसीलिये वे यावन्मा जीवों के रक्षक माने

जाते हैं। ऐसे भिक्षुक जीवन के लिये ही उपरोक्त प्रकार की अहिंसा की प्रतिज्ञा का विधान किया गया है।

गुरुः—संयमी, पापसे विरक्त तथा नये पापकर्मों के बंध का प्रत्याख्यान होनेवाले साधु अथवा साध्वी को, दिनमें या रातमें, एकांत या साधुसमूहमें, सोते जागते किसी भी अवस्थामें हाथ पर, पग पर, बांहों पर, जांघ पर, पेट पर, मस्तक पर, वस्त्र पर, भिक्षापात्र पर, कंबल पर, पायपोंछ पर, रजोहरण पर, गुच्छा पर, मात्रा (मूत्र) के भाजन पर, दंड पर, देहली पर, पाटिया पर, शय्या, बिस्तरे अथवा आसन पर अथवा अन्य किसी भी संयम के साधन उपकरण आदि पर अवस्थित कीटक, पतंगिया, कुंथु अथवा चींटी दिखाई पडे तो उसको सर्व प्रथम बहुत उपयोग पूर्वक उसे देखे, देखकर परिमार्जन करे और फिर बादमें उन जीवों को (दुःख न पहुंचे इस प्रकार) एकांतमें ले जाकर छोड देवे, किन्तु उनको थोडीसी भी पीडा न दे।

टिप्पणी—साधक जीवन के लिये 'प्रतिज्ञा' अति आवश्यक एवं आदरणीय वस्तु है। साधक जीवनमें, जहां प्रतिक्षण दृढ संकल्पबल की जरूरत होती है वहां प्रतिज्ञा उस बल की पूर्ति करनेमें सहचरी का कार्य करती है। प्रतिज्ञा, यह निश्चल जीवन की प्राण और विकास की जननी है। मन के दुष्ट वेगको रोकनेमें वह अर्गला (चटकनी) का काम करती है। इसी लिये प्रतिज्ञा की रस्सी पर नट की तरह लक्ष्य रखकर श्रमण साधक अपना रास्ता काटता है और प्रतिज्ञा के पालनके लिये आशा, तृष्णा, काम, मोह तथा विश्वमें बजते हुए अनेक बाजों की तरफ ध्यान न देकर वह जीवनके अंत तक अटल, अडग एवं एकलक्ष्य बना रहता है।

पद्यविभाग

—:०:—

[साधक की प्राथमिक साधना से लगाकर अन्तिम सिद्धि तक के संपूर्ण विकासक्रम की प्रत्येक भूमिका का क्रमशः यहां वर्णन करते हैं।]

[१] अयत्ना से (उपयोग रहित होकर) चलनेवाला आदमी प्राणिभूत (तरह २ के जीवों) की हिंसा करता है और इस कारण वह जिस पापकर्म का बंध करता है उस कर्म का कडुआ फल स्वयं उसको ही भोगना पडता है।

टिप्पणी–'उपयोग' के यों तो कई एक अर्थ हैं और उसका बडा व्यापक अर्थ है फिर भी यहां पर प्रसंगानुसार उसका अर्थ 'जागृति' रखना विशेष उचित है। जागृति अथवा सावधानता के विना यदि मनुष्य जाने लगे तो उसके द्वारा नाना तरह के जीवों की विराधना होजाने की संभावना है, गड्ढे आदि में पैर पड जाने का डर है। इसी तरह स्वपर को दुःख देनेवाली अनेक बातें हो सकती हैं। प्रत्येक क्रिया के विषयमें ऐसा ही समझना चाहिये।

[२] अयत्ना से खडा होनेवाला मनुष्य खडे होते समय प्राणिभूत की हिंसा करता है और उससे वह जिस पापकर्म का बंध करता है उस कर्म का कडुआ फल स्वयं उसको ही भोगना पडता है।

[३] अयत्नापूर्वक बैठनेवाला मनुष्य बैठते हुए अनेक जीवों की हिंसा करता है और इससे वह जिस पापकर्म का बंध करता है उस कर्म का कडुआ फल स्वयं उससे ही भोगना पडता है।

[४] अयत्नापूर्वक लेटनेवाला मनुष्य लेटते हुए अनेक जीवों की हिंसा करता है और इससे वह जिस पापकर्म का बंध करता है उसका कडुआ फल स्वयं उसको ही भोगना पडता है।

[५] अयत्नापूर्वक अप्रकाशित पात्रमें भोजन करने किंवा रस की आसक्ति पूर्वक भोजन करने से वह भोजन करनेवाला प्राणि-भूत की हिंसा करता है और इससे वह जिस पापकर्म का बंध करता है उसका कटुक फल स्वयं उसको ही भोगना पडता है।

[६] अयत्ना से बिना विचारे यद्वातद्वा बोलनेवाला मनुष्य प्राणिभूत की हिंसा करता है और इससे वह जिस पापकर्म का बंध करता है उसका कटुक फल स्वयं उसको ही भोगना पडता है।

टिप्पणी–अनेक क्रियाएं ऐसी हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूपसे हिंसा होती हुई दिखाई नहीं देती, उदाहरण के लिये बोलने में। किसी को आप कितना भी कटुक वचन क्यों न कहिये, सुननेवाले के प्राणों का व्यतिपात उससे नहीं होगा किन्तु फिर भी असत्य किंवा मर्मभेदी शब्द प्रयोग करने से सुननेवाले के मन को दुःख अवश्य पहुंचता है और इस कारण से ऐसा वचन हिंसा ही है। इस क्रिया द्वारा जिस पापकर्म का बंध होता है वह अन्तमें बडा ही परिताप देता है।

[७] शिष्यः–हे पूज्य ! (कृपाकर आप मुझे बताओ कि) कैसे चलें ? किस तरह खडे हों ? किस तरह बैठें ? किस तरह लेटें, कैसे खांय और किस तरह बोलें जिससे पापकर्म का बंध न हो ?

[८] गुरुः–हे भद्र ! उपयोगपूर्वक चलने से, उपयोगपूर्वक खडा होने से, उपयोगपूर्वक बैठने से, उपयोगपूर्वक लेटने से, उपयोग-पूर्वक भोजन करने से एवं उपयोगपूर्वक बोलने से पाप बंध नहीं होता।

टिप्पणी—वस्तुतः उपयोग ही धर्म है। उपयोग रखनेवाला अर्थात् प्रत्येक क्रिया को जागृत भावसे करनेवाला साधक इरादापूर्वक पापकर्म नहीं करता है और उठते, बैठते, चलते फिरते, खाते पीते आदि क्रियाओं में जो कुछ भी स्वाभाविक रूपमें पापकर्म हो जाता है उसका निवारण वह शीघ्र ही तपश्चर्या एवं पश्चात्ताप द्वारा कर डालता है।

[६] जो यावन्मात्र प्राणियों को अपने प्राणों के समान मानता है तथा उनपर समभाव रखता है और पापास्रवों (पापके आगमनों) को रोकता है ऐसा दमितेन्द्रिय संयमी को पापकर्म का बंध नहीं होता।

टिप्पणी—समभाव, आत्मभाव, पापत्याग तथा इन्द्रिय दमन ये चार गुण पापबंध को रोकते हैं। इनसे नूतन कर्मास्रव नहीं होता इतना ही नहीं किन्तु पूर्वकृत पाप भी क्रमशः नष्ट हो जाते हैं।

[१०] सबसे पहिला स्थान ज्ञान (सारासार का विवेक) का है और उसके बाद दया का स्थान है। ज्ञानपूर्वक दया पालने से ही साधु सर्वथा संयमी रह सकता है ऐसा जानकर ही संयमी पुरुष उत्तम आचरण करते हैं क्योंकि अज्ञानी जन, हमारे लिये क्या वस्तु गुणकारी (कल्याणकारी) अथवा क्या पापकारी (अहितकारी) है उसे नहीं जान सकते।

टिप्पणी—ऊपर की सभी गाथाओं में केवल प्राणीदया का विधान किया गया है इससे संभव है कि कोई दया का शुष्क अर्थ कर डाले। इसी लिये यहां सबसे पहिले ज्ञान को स्थान दिया है। यदि अहिंसा में विवेक न रक्खा जायगा तो ऊपरसे दीखनेवाली अहिंसा भी हिंसा रूपमें परिणत हो आयगी इसलिये प्रत्येक क्रियामें विवेक का स्थान सबसे पहिले रक्खा है।

उत्क्रांति का क्रम

[११] धर्म का यथार्थ श्रवण कर ज्ञानी साधक कल्याणकारी क्या है तथा पापकारी क्या है इन दोनों पर विचार कर निश्चय करे और उनमें से जो हितावह हो उसीको ग्रहण करे।

[१२] जो जीव (चेतनतत्त्व) को भी जान नहीं सकता और अजीव (जड़तत्त्व) को भी नहीं जान सकता वह जीवाजीव को नहीं जान सकने के कारण संयम को कैसे जान सकेगा ?

टिप्पणी—सबसे पहिले आत्मतत्त्व को जानना उचित है उसको जानने से अजीव तत्त्व का भी ज्ञान हो जायगा और इन दोनों तत्त्वों को यथार्थ रीतिसे जानने पर ही समस्त जगत के स्वरूप की प्रतीति हो जायगी और वैसी प्रतीति होने पर ही सच्चे संयमको समझकर उसकी आराधना हो सकती है।

[१३] जो कोई जीव तथा अजीव को जानता है वह जीवाजीव को जानकर संयम को भी यथार्थ रीतिसे जान सकेगा।

ज्ञान प्राप्ति से लेकर मुक्तदशा तक का क्रमिक विकास

[१४] जीव तथा अजीव इन दोनों तत्त्वों के ज्ञान होजाने के बाद सब जीवों की बहुत प्रकार की (नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देव संबंधी) गतियों का भी ज्ञान होजाता है।

[१५] सब जीवों की सर्व प्रकार की गतियों के ज्ञान होजाने पर वह साधक पुण्य, पाप, बंध तथा मोक्ष इन चारों बातों को भी भलीभांति जान जाता है।

टिप्पणी—पाप और बंध से क्या गति होती है ? पुण्यसे कैसा बाह्यसुख मिलता है और कर्ममुक्तिसे कैसा आत्मिक आनंद मिलता है आदि सभी बातें ऐसा साधक ही बराबर समझ सकता है।

[१६] पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष के स्वरूप समझमें आने पर वह साधक समस्त दुःखों के मूल स्वरूप देव एवं मनुष्य आदि संबंधी भोगों से निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त होता है (अर्थात् वैराग्य को प्राप्त होकर काम भोगों से निवृत्त होता है)

[१७] देव, मनुष्य आदि संबंधी भोगों से वैराग्य हो जाने पर वह साधक आभ्यंतर एवं बाह्य संयोगों की आसक्ति का त्याग करनेकी तरफ आकृष्ट होता है।

टिप्पणी—आभ्यंतर संयोग अर्थात् कषायादि का संयोग एवं बाह्य-संयोग अर्थात् कुटुंबीजन आदि का संयोग।

[१८] आभ्यंतर एवं बाह्य संयोगों की आसक्ति छूट जाने पर वह साधक संवर (पाप का निरोध) रूप उत्तम धर्म का स्पर्श करता है। (अर्थात् उसी दशामें ही उत्तम धर्म को ग्रहण करने की उसमें पात्रता आती है)

टिप्पणी—उत्तम धर्म अर्थात् आध्यात्मिक धर्म। इतनी सीढियां चढ चुकने के बाद ही वह आध्यात्मिक धर्म का आराधन करने के योग्य हो पाता है।

[२०] संवर रूप उत्कृष्ट धर्म का स्पर्श होने पर ही अबोधि (अज्ञान) रूपी कलुषताजन्य पूर्वसंचित पापकर्म रूपी मैल दूर किया जा सकता है।

[२१] अज्ञानजन्य अनादि काल से संचित कर्मरूपी मैल दूर होने पर ही वह साधक सर्व लोकव्यापी केवलज्ञान एवं केवल-दर्शन की प्राप्ति करता है।

टिप्पणी—जिस के द्वारा संसार के यावन्मात्र पदार्थों के भूत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों कालों की समस्त पर्यायों का एक ही साथ संपूर्ण ज्ञान होता है उस संपूर्ण ज्ञान को जैन धर्ममें 'केवलज्ञान' कहा है।

[२२] ऐसे सर्वलोकव्यापी केवलज्ञान एवं केवलदर्शन की प्राप्ति होने पर वह साधक जिन (रागद्वेष रहित) केवली होकर लोक एवं अलोक के स्वरूप को जान सकता है।

[२३] वह केवली जिन, लोक एवं अलोक के स्वरूप को जानकर मन, वचन और काया के समस्त व्यापारों को रोक कर शैलेशी (आत्मा की मेरु के समान अचल, अडग निश्चल दशा) अवस्था को प्राप्त होता है।

[२४] भोगों को रुद्ध कर शैलेशी अवस्था प्राप्त होने के बाद ही सब कर्मों का क्षय कर के कर्मरूपी रज (धूल) से सर्वथा रहित होकर वह साधक सिद्धगति को प्राप्त होता है।

[२५] समस्त कर्मों का क्षय कर कर्मरूपी रजसे रहित हो सिद्ध होने पर वह स्वाभाविक रीति से इस लोक के मस्तक (अन्तिम स्थान) पर जाकर शाश्वत सिद्ध रूपमें विराजमान होता है।

टिप्पणी—आत्मा का स्वभाव ही ऊर्ध्वगमन है किन्तु कर्मों के फन्दों में फँसे रहने के कारण उसे कर्म जैसा नचाते है वैसा ही उसे नाचना पडता है। यही कारण है कि वह विलोम गतियों में जाता है। जब वह कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है तब वह स्वाभाविक गति से सीधा ऊर्ध्वगमन करता है।

[२६] ऐसे साधु को जो सुख का स्वाद अर्थात् मात्र बाह्य सुख का ही अभिलाषी हो, मुझे सुख कैसे मिले इसके लिये निरंतर व्याकुल रहता हो, बहुत देर तक सोते पडे रहने के स्वभाव वाला हो और जो शारीरिक सौन्दर्य को बढाने के लिये अपने हाथ पैर आदि को सदा धोता साफ करता रहता हो ऐसे (नामधारी) साधु को सुगति मिलना बडा ही दुर्लभ है।

टिप्पणी—अपने शरीर तथा इन्द्रियों को सुख कैसे मिले इसके लिये सदैव चिन्ता रखनेवाले, आलसी तथा शरीर विभूषा में रुचि रखनेवाले साधु का मन संयम में लग ही नहीं सकता क्योंकि संयम का अर्थ ही शरीर का ममत्व घटाना और आत्मसिद्धि करना है। जो साधु शरीर की टीपटाप में सतत लगा रहता है वह आत्मा की अनन्त सुन्दरता को नहीं जानता। यदि वह उसे जानता होता तो इस क्षणिक, विनाशी शरीर को सजाता ही क्यों? उसे सजाने की चेष्टा ही क्यों करे? इसी लिये शरीर प्रेमी साधक का विकास रुक जाता है यह स्वाभाविक ही है।

गाथामें 'निकामशायिन्' शब्द का प्रयोग किया है। इसके 'इन्' प्रत्यय का प्रयोग 'स्वभाववाले' के अर्थ में हुआ है।

[२७] जिसमें आभ्यंतर एवं बाह्य तपश्चर्या की प्रधानता है, जो प्रकृति से सरल तथा क्षमा एवं संयम में अनुरक्त है और जो समभावपूर्वक २२ परिषहों को जीत लेता है ऐसे साधक के लिये सुगति प्राप्त होना सरल है।

टिप्पणी—परिषहों का विशद वर्णन श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्यायमें तथा तपश्चर्या का वर्णन ३० वें अध्ययन में दिया है जिज्ञासु उन्हें वहां पढ लेवें।

[२८] जिन को तप, संयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं ऐसे साधक यदि अपनी पिछली अवस्थामें भी संयम मार्ग का अनुसरण करते हैं तो वे शीघ्र ही अमर भव (उच्च प्रकार के देवलोकमें जन्म) प्राप्त करते हैं।

टिप्पणी—थोडे समय का भी उच्च संयम उच्च गति की साधना कर सकता है।

[२९] इस प्रकार सतत यत्नावान एवं सम्यग्दृष्टि साधक अत्यन्त दुर्लभ आदर्श साधुत्व को प्राप्त होकर पूर्वोक्त षड्जीवनिकाय की मन, वचन एवं काय इन तीनों योगों से विराधना न करे।

टिप्पणी—प्रमाद ही पाप है, अविवेक ही पाप है और उपयोग ही धर्म है विवेक ही धर्म है, बस इतना ध्यानमें रखकर जो साधक आचरण करता है वही साधक अध्यात्म मार्ग का सच्चा अधिकारी है और वही ज्ञान, विज्ञान, संयम वैराग्य, त्याग, को प्राप्त होकर क्रम २ से कर्मों का नाश करता हुआ अन्तमें संपूर्ण ज्ञान एवं दर्शन की सिद्धि करता है और वही रागद्वेष से सर्वथा मुक्त अडोल योगी होकर साध्यसिद्ध, बुद्ध और भवबंधन से सर्वथा मुक्त परमात्मा हो जाता है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'षड्जीवनिका' नामक चतुर्थ अध्ययन संपूर्ण हुआ।

पिंडैषणा

—(०)—

(भिक्षाकी गवेषणा)

५

प्रथम उद्देशक

साधु की भिक्षा का अर्थ यह है कि दूसरे को लेशमात्र भी कष्ट न पहुंचा कर और केवल आत्मविकास के लिये ही प्राप्त देह साधन से भरपूर काम लेने के लिये उसको पोषण देने को जितनी आवश्यकता हो उतनी ही अन्नादि सामग्री प्राप्त करना। साधु की भिक्षामें ये तीन गुण होने चाहिये। जिस भिक्षामें इन गुणों उद्देश्यों की पूर्ति का ध्यान नहीं होता वहां 'साधुत्व' भी नहीं होता और उस भिक्षामें सामान्य भिक्षा की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है।

कंचन एवं कामिनी से सर्वथा विरक्त ऐसे त्यागी पुण्यात्मा पुरुष ही ऐसी आदर्श भिक्षा मांगने और पाने के अधिकारी हैं।

जिसने राष्ट्रगत, समाजगत, कुटुंबगत और व्यक्तिगत प्राप्त सभी संपत्ति, उदाहरणार्थ धन, स्त्री, पुत्र, परिवार, घर, माल मिलकत, आदि सब से ममता एवं स्वामित्व भाव को हटा कर उन सब को विश्वचरणोंमें समर्पण कर दिया है, जिसने स्वपर कल्याण के मार्गमें ही अपनी काया निछावर कर दी है ऐसे समर्थ साधु पुरुष ही इस वृत्ति से अपना जीवन बिता सकते हैं और अपना पोषण

करते हुए भी दूसरों पर भार भूत नहीं होते। ऐसे महात्मा निरन्तर अपनी कल्याणसिद्धि करते हुए भी अन्य अनेक श्रेयार्थी मुमुक्षु जीवों के लिये महाकल्याण के निमित्त रूप बन जाते हैं। उनको देखकर हजारों लाखों भूली हुई आत्माएं सुमार्ग पर आजाती हैं; सैंकडो हजारों आत्माएं आत्मदृष्टी बन जाती हैं, सैंकडों इस भवसागर को पार कर जाती हैं। ऐसे महापुरुषों का क्षणिक सम्मिलन भी आत्मा को क्या से क्या बना देता है !

परन्तु दूसरे को थोडा सा भी दुःख दिये विना और अन्य सूक्ष्म जीवों को भी पीडा न देते हुए परिपूर्ण विशुद्धिपूर्वक देह का पोषण करना यह बात साधु के लिये तलवार की धार पर चलने जैसी बडी ही कठिन कसौटी के समान है साधक उस कसौटीमें पार कैसे उतरें इसका इस अध्यायमें बडा ही सुन्दर वर्णन किया है। भिक्षार्थ जाने के लिये बाहर निकलने से लेकर भिक्षा लेकर पीछे आने और भोजन करने तक की समस्त क्रमिक क्रियाओं का निरूपण नीचे किया जाता है।

गुरुदेव बोले :—

[१] जब भिक्षा का काल प्राप्त हो तब साधु व्याकुलता रहित (निराकुलता के साथ) और मूर्च्छा (लोलुपता) रहित होकर इस क्रमयोग से आहार पानी (भिक्षा) की गवेषणा करे।

टिप्पणी—साधक भिक्षुको प्रथम प्रहरमें स्वाध्याय, दूसरे प्रहरमें ध्यान और तीसरे प्रहरमें भंडोपकरण (संयम के उपयोगी साधनों) की प्रतिलेखना कर वर्तमान काल की परिस्थिति के अनुसार जिस गांवमें, जो समय गोचरी (भिक्षा) का हो उसी समयमे भिक्षाचरी के लिये जाना उचित है।

[२] गांव अथवा नगरमें गोचरी के निमित्त जानेवाला मुनि उद्वेग-रहित होकर अव्याकुल चित्त से मंद मंद (उपयोग पूर्वक) गति से चले।

गमन की विधि

[३] भिक्षार्थी साधु अपने आगे की चार हाथ प्रमाण पृथ्वी पर अपनी दृष्टि बराबर फैलाकर बीज, वनस्पति, प्राणी, सचित्त जल, तथा सचित्त मिट्टी से बचकर आगे बराबर देखकर उपयोगपूर्वक चले।

[४] पूर्वोक्त गुणों से युक्त साधु गड्ढा अथवा ऊंची नीची विषम जगह, वृक्ष के ठूंठों अथवा कीचड से भरी जमीन को छोड देवे तथा यदि दूसरा अच्छा मार्ग हो तो गड्ढे (नाला आदि) को पार करने के लिये उस पर लकडी, तख्ता, पाषाण आदि जडे हों तो उनके ऊपर से न जाय।

[५] क्योंकि वैसे विषम मार्गमें जाने से यदि कदाचित वह संयमी रपट जाय, या गड्ढेमें गिर पडे तो उससे त्रस तथा स्थावर जीवोंकी हिंसा होनेकी संभावना है।

[६] इसलिये सुसमाधिवंत संयमी, यदि दूसरा कोई अच्छा मार्ग हो तो ऐसे विषम मार्गसे न जाय। यदि कदाचित दूसरा अच्छा मार्ग ही न हो तो उस मार्ग में बहुत ही उपयोग पूर्वक गमन करे।

टिप्पणी—उपयोगपूर्वक चलने से गिर पडने का डर नहीं रहेगा और न गिरने से त्रस स्थावर की हिंसा भी न होगी। यदि वह संभालपूर्वक नहीं चलेगा तो उसके गिर पडने और उससे पृथ्वी, जल, वनस्पति जीवों की अथवा चींटी चींटा आदि त्रस जीवों की हिंसा के साथ २ स्वयं को भी चोट पहुंचने का डर है।

[७] गोचरी के लिये जाते हुए मार्ग में पृथ्वी कायिक प्राणियों की रक्षा के निमित्त राख के ढेर पर, धान आदि के छिलकों के ढेरपर, गोबर के ढेरपर सचित्त रजसे भरे हुए पैरों सहित संयमी पुरुष गमन न करे और न उन्हें लांघे ही।

टिप्पणी–सचित्त रज को पूंजे (साफ किये) बिना किसी वस्तु पर पग रखने से सचित्त रजके जीवों का नाश हो जाने का डर है, इसी लिये ऐसा करने का निषेध किया है।

[८] (जलकायिक इत्यादि जीवों की रक्षा के लिये) वरसात पड रही हो, कोहरा पड रहा हो, आंधी आ रही हो अथवा खूब धूल उड रही हो तथा मक्खी, मच्छर, पतंगिया आदि अनेक प्रकार के जीव उड रहे हों ऐसे मार्ग में भी इन समयों में संयमी पुरुष को गोचरी के लिये कदापि नहीं जाना चाहिये।

[९] (अब ब्रह्मचर्य की रक्षा के विषयमें कहते हैं कि) संयमी पुरुष उस प्रदेशमें, गोचरी के लिये न जाय जिसमें अथवा जिसके आसपास ब्रह्मचर्य की घातक वेश्याएं रहती हों क्योंकि दमितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचारी साधक के चित्त में इनके कारण असमाधि होने की आशंका होती है।

टिप्पणी–वेश्या अर्थात् चारित्रहीन स्त्री। उसके घरमें तो क्या, किन्तु उसके आसपास के प्रदेशमें भी ब्रह्मचारी को नहीं जाना चाहिये क्योंकि विकार के बीज किन संयोगोंमें, किस समय अंकुरित हो उठेंगे इसका कोई नियम नहीं है, इस लिये सतत जागृत रहना ही उत्तम है।

[१०] दूसरीबात यह भी है कि ऐसे कुस्थानों पर जाने से वहां के वातावरण का संसर्ग बारंबार होगा। उस संसर्ग से अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प होंगे और उन संकल्प विकल्पों से सब व्रतोंमें पीडा (आकुलता) उत्पन्न होने की आशंका है और (दूसरों को) साधु की साधुतामें संशय हो सकता है।

टिप्पणी–एकबार अब्रह्मचर्य का संकल्प होते ही अन्य महाव्रतोंमें शिथिलता आये बिना नहीं रहती। और व्रतोंमें शिथिलता होते ही साधुता का लोप हो जाता है, क्योंकि साधुता की नींव नियमों के अखण्ड पालन पर

ही अवस्थित है। "कसौटी (परीक्षा अथवा प्रतिकूल) निमित्तों से घिरे रहने पर भी मैं अडग, निश्चल अथवा आत्मलक्षी रह सकता हूं" इस प्रकार का अभिमान साधक स्थितिमें बहुधा पतन का ही कारण होता है।

[११] इस लिये केवल एकांत मुक्ति का इच्छुक मुनि वेश्या के समीपस्थ प्रदेश को दुर्गति का बढानेवाला एवं दोषों की खान समझकर वहां के गमनागमन का त्याग कर दे।

[१२] जहां कुत्ते हों, तुरत की ब्याई हुई (नवप्रसूता) गाय हो, मदोन्मत्त बैल, घोडा अथवा हाथी हो अथवा जो लडकों के खेलने की जगह हो, अथवा जो कलह और युद्ध का स्थान हो ऐसे स्थानों को भी (गोचरी को जाता हुआ) साधु दूर से ही छोड देवे।

[१३] गोचरी को जाता हुआ मुनि मार्गमें अपनी दृष्टि को अति ऊंची किंवा अति नीची न रक्खे; अभिमान अथवा दीनता धारण न करे और स्वादिष्टतर भोजन मिलने से बहुत खुश न हो और न मिलने से व्याकुल अथवा खेदखिन्न न हो। अपनी इन्द्रियों तथा मन निग्रह कर उनको समतोल रखकर साधु विचरे।

[१४] हमेशा ऊंचे नीचे सामान्य कुटुंबोंमें अभेद भाव से गोचरी करनेवाला संयमी साधु बहुत जल्दी २ न चले और न कभी चलते २ हंसे या बोले।

टिप्पणी–गोचरी जाते हुए वार्तालाप करने अथवा हंसने से अपनी क्रियामें उपयोग न रहने से निर्दोष आहार की गवेषणा नहीं हो सकती इसी लिये उक्त दोनों बातों का निषेध किया है।

[१५] गोचरी के लिये जाता हुआ भिक्षु गृहस्थों के घर की खिड-कियों, झरोखों, दीवालोंके जोडों के विभागों, दरवाजों, दो घरों

की संधि के विभागों अथवा जलगृह (पानी रखने के स्थान) आदि शंकापूर्ण स्थानों को दूर ही से छोड दे अर्थात् चलते २ उक्त स्थानों की तरफ दृष्टि निक्षेप न करे।

टिप्पणी–ऐसे स्थानों को साभिप्राय (दृष्टि गड़ा गड़ा कर) देखने से किसी को साधु के चोर होने की शंका हो सकती है।

[१६] उसी प्रकार राजाओं, गृहपतियों, अथवा चरों (पुलिसों) के रहस्य (एकांत वार्तालाप) के क्लेशपूर्ण स्थानों को भी दूर ही से छोड दे।

टिप्पणी–उक्त प्रकार के स्थानों पर सदैव गुप्त यंत्रणाएं, षड्यंत्र की युक्ति प्रयुक्तियां होती रहती हैं। ऐसे स्थानों पर साधु के जाने से किसी को उस पर अनेक तरह का संदेह हो सकता है। घरवाले यह शंका करेंगे कि यह व्यक्ति साधु वेशमें हमारा भेद लेने के लिये आता है और जन साधारण उसे वहां जाते देखकर मनमें समझेंगे कि शायद इसका भी गुप्त मंत्रणाओंमें हाथ है। इसी लिये ऐसे शंकापूर्ण स्थानोंमें साधु को गोचरी के निमित्त नहीं जाना चाहिये।

[१७] गोचरी के लिये गया हुआ साधु लोक निषिद्ध कुलमें प्रवेश न करे और जिस गृहपतिने स्वयं ही उसे वहां आने का निषेध किया हो कि 'हमारे घर न आना' उस घरमें तथा जिस घरमें जाने से वहां के लोगों को अप्रीति होती हो ऐसे स्थानों पर भी साधु गोचरी के निमित्त न जाय किन्तु जिस कुलमें प्रेमभक्ति हो वहीं वह भिक्षार्थी भिक्षु प्रवेश करे।

[१८] गृहस्थ के घर भिक्षार्थ गया हुआ मुनि घर के मालिक की आज्ञाबिना किवाडों को अथवा शय्या आदि के परदों को अथवा बांस आदि की चिक को न उघाडे और न उन्हें एक तरफ को खिसका वे ही।

टिप्पणी—दरवाजा बंद कर के गृहस्थ अपनी रहस्य क्रिया करते हों तो इस तरह से अचानक किवाड खोलने से उनको दुःख अथवा क्रोध हो आने की संभावना है। ऐसे दोषों का निवारण करने के लिये ही ऐसा न करने का विधान किया गया है। यदि कदाचित दरवाजा खुला भी हो तो भी ऊपर से विवेक रखना उचित है। यह एक ऐसा नियम है जो मुनि अथवा गृहस्थ सभी को एकसरखा लागू होता है। यदि इस नियम का सर्वत्र पालन किया जाय तो 'आज्ञा विना अंदर आने की मना है' के साइनबोर्ड दरवाजे पर न लगाने पड़े।

[१६] मलमूत्र की शंका हो तो उससे निवृत्त होकर ही मुनि गोचरी के लिये गमन करे। कदाचित् रास्तेमें आकस्मिक शंका लगे तो मल या मूत्र को विसर्जन करने योग्य निर्जीव जगह देखकर उसके मालिक की आज्ञा लेकर बाधा का निवारण करे।

टिप्पणी—मल एवं मूत्र की शंकाएं मार्ग में न हों उसके लिये पहिले ही से सावधान रहना चाहिये और यदि आकस्मिक हो तो उस बाधा को रोकने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये क्योंकि कुदरती हाजतों को रोकने से शरीरमें रोग होने का डर है। इस लिये ऐसा न कर किसी योग्य स्थानमें उन क्रियाओं को करना ही ठीक है।

[२०] जिस घर का नीचा दरवाजा हो, जिस घरमें अंधकार व्याप्त हो रहा हो अथवा जिसमें नीचा तहखाना हो उस घरमें मुनि भिक्षार्थ न जाय क्योंकि अंधकार व्याप्त रहने से वहां पर चलने फिरने वाले त्रस जीव दिखाई न देने से उनकी विराधना हो जाने का डर है।

टिप्पणी—यह भोजन अपने संयममें बाधा डालनेवाला है किंवा निर्दोष है इस बात का २ अंधेरे में कुछ भी पता नहीं चल सकता। फिर वहां पर गिर पड़ने, छोटे बड़े जन्तु की विराधना हो जाने आदि अनेक दोष हो जाने का डर भी है।

[२१] जिस स्थान पर बीज अथवा फूल फैले हों अथवा जो स्थान हाल ही में लीपे पोते जाने के कारण गीला या सीला हो तो ऐसे घर में भिक्षु गोचरी के निमित्त न जाय।

टिप्पणी—वनस्पति कायिक अथवा जल कायिक जीवों को उससे थोड़ा सा भी कष्ट न हो इसका साधु को सदैव ध्यान रखना चाहिये।

[२२] संयमी मुनि गृहस्थ के घर में बालक, बकरा, कुत्ता अथवा गाय का बच्चा आदि हो तो उसको लांघ कर अथवा उसको एक तरफ हटा कर घर में प्रवेश न करे।

टिप्पणी—लांघने में गिर पड़ने का और एक तरफ हटाने में कुत्ते आदि का क्रुद्ध होकर काट खाने या चोट पहुंचाने का डर है।

[२३] गृहस्थ के घर भिक्षार्थ गया हुआ साधु (भिक्षा किंवा किसी व्यक्ति या वस्तु पर) आसक्तिपूर्वक दृष्टि निक्षेप न करे, इधर उधर दृष्टि न दौड़ावे और न किसी की तरफ आंखें फाड़ २ कर ही देखे। यदि कदाचित् उस घर में किसी मनुष्य को न देखे तो वहां से चुपचाप कुछ भी बोले बिना पीछे लौट आवे।

टिप्पणी—बारंबार किसी की तरफ देखनेसे, अथवा इधर उधर दृष्टि दौड़ानेसे गृहस्थको साधु पर शंका करने का कारण मिल सकता है इसलिये ऐसा न करना चाहिये।

[२४] गोचरी के निमित्त गया हुआ साधु, जिस कुल का जैसा आचार हो वहां तक की परिमित भूमिमें ही गमन करे। नियत सीमा के बाहर गमन न करे।

टिप्पणी—जैन मुनियों के लिये यद्यपि उच्च आचारविचार के कुलों में भिक्षा मांगने की छूट है फिर भी भिन्न २ कुल के जाति एवं धर्मगत रीतिरिवाजों के अनुसार ही, उनके घर की नियत सीमा में रहकर भिक्षु

शुद्ध भिक्षा प्राप्त करे। मर्यादा से आगे रसोईगृहमें कदाचित दाता को दुःख हो, इसलिये साधु वैसा न करे।

[२५] जहां खडे रहने से स्नानागार अथवा मल विसर्जन गृह (संडास अथवा टट्टी) दिखाई देते हों तो उस स्थान को छोडकर अन्य स्थान पर जाय और शुद्ध स्थान को देखकर विचक्षण साधु भिक्षा के लिये वहां खडा हो।

टिप्पणी–उक्त प्रकार के स्थानों में खडे रहने से स्नानागार में नहाते हुए किंवा संडासमें जाते हुए गृहस्थ को मुनिका वहां खडा रहना असभ्यता-पूर्ण दिखाई देने और उससे मुनि की अवगणना होने की संभावना है।

[२६] सब इन्द्रियों से समाधिवंत मुनि पानी या मिट्टी लाने के मार्ग को तथा जहां लीलोतरी (हरियाली सचित्त वस्तु) फैली हो उस स्थान को छोडकर प्रासुक स्थानमें जाकर भिक्षार्थ खडा हो।

टिप्पणी–वैसे स्थान में खडे रहने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होने की संभावना है।

[२७] पूर्वोक्त मर्यादित स्थान में खडे हुए साधु को गृहस्थ आहार पानी लाकर व्होरावे तो उसमें से जो वस्तु अकल्पनीय (अग्राह्य) भिक्षा हो उसको सुन्दर होने पर भी वह न ले, इतना ही नहीं उसके ग्रहण करने की इच्छा तक भी न करे और केवल कल्पनीय अन्न जल को ही ग्रहण करे।

टिप्पणी–श्री दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में तथा श्री उत्तरा-ध्ययन सूत्र के २४ वें अध्ययन में वर्णित दूषणरहित शुद्ध भिक्षा ही साधु के लिये कल्पनीय कही है।

[२८] गृहस्थ की दान के लिये यदि भिक्षा लाते हुए रास्ते में अन्न फैलाती हुई आवे तो भिक्षु भिक्षा देनेवाली उस बाई

को कहे कि इस प्रकार की भिक्षा लेना मुझे कल्प्य (मेरे लिये ग्राह्य) नहीं है।

टिप्पणी—भोजन फैलने से जमीन पर गंद की होगी और उस पर क्षुद्र जीव आ बैठें तो इस प्रकार उन पर होकर आने जाने में उनकी हिंसा हो जाने की आशंका है।

गाथामें 'गृहस्थ स्त्री' शब्द आया है तो इससे कोई यह न समझे कि स्त्री ही दान दे। ऐसा कोई खास नियम नहीं है किन्तु गृहकार्य और उसमें भी रसोई गृह का सारा प्रबंध तो स्त्रियों के हाथों में ही होता है इस लिये सम्भान्यता की दृष्टि से इस पद का यहां उपयोग किया है।

[२९] अथवा भिक्षा देनेवाली बाई रास्ते में चलते फिरते क्षुद्र जन्तुओं, छीकोतरी आदि को खुंदती हुई भिक्षा लावे तो वह दाता असंयम कर रहा है ऐसा समझकर वह साधु उस भिक्षा को ग्रहण न करे।

टिप्पणी—संयमी स्वयं सूक्ष्म जीवों की हिंसा न करे मन से भी न विचारे यह तो उसका जीवनव्रत है ही किन्तु ऐसा शुद्ध अहिंसक अपने निमित्त दूसरों द्वारा हिंसा होने की भी इच्छा न करे।

[३०+३१] इसी प्रकार साधु के भोजन में सचित्त में अचित्त वस्तु मिलाकर अथवा सचित्त वस्तु पर अचित्त वस्तु रखकर अथवा सचित्त वस्तु का स्पर्श करा कर अथवा सचित्त जल को हिलाकर अथवा यदि घरमें वर्षादि का पानी भरा हुआ हो तो उसमें प्रवेश कर के, उसको क्षुब्ध कर के, सचित्त वस्तु को एक तरफ हटाकर, यदि दाता बाई श्रमण के लिये आहार पानी लावे तो मुनि उस दाता बहिन को कह दे कि ऐसा भोजनपान उसके लिये अकल्प्य (अग्राह्य) है।

[३२] यदि कोई व्यक्ति पुरा कर्म से दूषित हाथ, कड़छी अथवा पात्र (बर्तन आदि) से आहार पानी दे तो उस दाता को वह कहे कि यह भोजन मेरे लिये कल्प्य (ग्राह्य) नहीं है।

टिप्पणी-आहार पानी व्होराने (देने) के पहिले सचित्त पानी से हाथ, कड़छी, आदि धोकर उन्हें दूषित करने को पुरा कर्म और आहार पानी दे चुकने पर उन्हें सचित्त पानी से धोकर दूषित करने 'पश्चात् कर्म' कहते हैं।

सारांश यह है कि मुनि अपने निमित्त एक सूक्ष्म जीव को भी थोडासा भी कष्ट न दे।

[३३+३४+३५] यदि कदाचित हाथ, कड़छी, पात्र (वर्तन) सचित्त पानी से गीले हों अथवा स्निग्ध (अधिक भीजे) हों, सचित्त रज, सचित्त मिट्टी अथवा क्षार या हरताल, हींग, मनःशिला, अंजन, नमक, गेरू, पीली मिट्टी, सफेद मिट्टी (खड़िया मिट्टी), फिटकरी, अनाजका भूसा हाल का पिसा हुआ आटा, तरबूज जैसे बड़े फल के रस तथा इसी प्रकार की दूसरी सचित्त वनस्पति आदि से सने हों तो उनसे दिये जाते हुए आहार पानी को मुनि ग्रहण न करे क्योंकि ऐसा करने से उसे 'पश्चात् कर्म' का दोष लगता है। (३१ वीं गाथा की टिप्पणी देखो)

टिप्पणी-कदाचित उक्त प्रकार की वस्तु से हस्तादि सने न हों फिर भी पीछे से 'पच्छा काम' होने की संभावना हो ऐसा आहार पानी साधु के लिये कल्प्य नहीं है यह अर्थ भी इस गाथा से निकाला जा सकता है।

[३६] किन्तु यदि बिना सने हुए स्वच्छ हस्त, बर्तन या कड़छी से दाता आहार पानी दे तो मुनि उसको ग्रहण करे किन्तु वह भी पूर्वोक्त दोषों से रहित एवं एषणीय (भिक्षुग्राह्य) होना चाहिये।

[३७] यदि कहीं पर दो आदमी भोजन कर रहे हों और उनमें से कोई एक आदमी साधु को भिक्षा का निमंत्रण दे तो मुनि उस आहार पानी की इच्छा न करे किन्तु दूसरे आदमी के अभिप्राय की राह देखे।

[३८] यदि कहीं पर दो आदमी भोजन करते हों और वे दोनों मुनि को आहार ग्रहण करने का निमंत्रण करें तो मुनि उस दातव्य एषणीय आहार पानी को ग्रहण करे।

[३९] भिक्षार्थी मुनि, गर्भवती स्त्री के लिये ही बनाये गये जुदे २ प्रकार के भोजनपानों को, भले ही वे उपयोग में आ रहे हों अथवा आनेवाले हों, उनको ग्रहण न करे किन्तु उनका उपयोग हो चुकने के बाद यदि वे बाकी बच जांय तो उनको ग्रहण कर सकता है।

टिप्पणी–गर्भवती स्त्री के निमित्त तैयार की गई वस्तु में से आहार पानी ग्रहण न करने का विधान इस लिये किया गया है क्योंकि उस भोजन में उस गर्भवती की इच्छा लगी रहती है इस लिये उसको ग्रहण करने से उसको इच्छाभंग होने की और इच्छाभंग के आघात से गर्भ को भी क्षति पहुंचने की संभावना है।

[४०+४१] कभी ऐसा प्रसंग भी आ सकता है कि श्रमण भिक्षु को भिक्षा देने के लिये पूर्णगर्भा स्त्री खड़ी हो। ऐसे प्रसंग में इन्द्रिय संयमी साधु को उसके द्वारा अन्नपान ग्रहण करना उचित नहीं है इस लिये साधु भिक्षा देनेवाली उस बाई को कहे कि इस प्रकार की भिक्षा ग्रहण करना मेरे लिये कल्प्य नहीं है।

टिप्पणी–जिस स्त्री को प्रसूति होने में एक महिने तक का अवकाश हो उसे पूर्णगर्भा स्त्री कहते है। इस समय में यदि वह स्त्री कोई परिश्रम साध्य कार्य करेगी तो इससे गर्भस्थ बालक की हानि पहुंचने का डर है।

[४२+४३] गोद के बालक या बालिका को दूध पिलाती हुई यदि कोई स्त्री उस बच्चे को रोता छोड कर भिक्षु को वहोराने के लिये आहार पानी लावे तो वह आहार पानी संयमी पुरुषों के लिये अकल्प्य (अग्राह्य) है इस लिये दान देती हुई उस बाई को श्रमण कहे कि इस प्रकार की भिक्षा मेरे लिये ग्रहण करने योग्य नहीं है।

[४४] जिस आहार पानी में कल्प्य अथवा अकल्प्य की शंका होती हो उस आहार पानी को देनेवाली स्त्री को श्रमण कहे कि इस प्रकार की भिक्षा मेरे लिये ग्रहण करने योग्य नहीं है।

टिप्पणी–कई वार ऐसा होता है कि स्वयं दाता को ही अमुक भोजन या पेय प्रासुक (निर्जीव) है या नहीं इसकी शंका रहती है। संयमी साधु ऐसी शंकापूर्ण भिक्षा ग्रहण न करे।

[४५+४६] जो आहार पानी सचित्त पानी के घडे से ढंका हो, पत्थर के खरल से, बाजोठ (बाजठ) से, ढेले से या मिट्टी अथवा ऐसे ही किसी दूसरे लेप से ढंका हो अथवा उस पर लाख की सील लगी हो और उसे तोडकर उसके अन्नपान को श्रमण को दान देने के लिये लावे तो उस बाई को श्रमण कहे कि इस प्रकार की भिक्षा मेरे लिये ग्राह्य नहीं है।

टिप्पणी–टूटी हुई सील को पुनः लगानी पडे तो इससे गृहस्थ को कष्ट तथा तत्संबंधी आरंभ में जीवहिंसा होने की आशंका है इस लिये उसे त्याज्य कहा है।

[४७+४८] गृहस्थों द्वारा बनाये हुए अन्न, पेय, खाद्य और स्वाद्य इन चार प्रकार के भोजनों के विषय में, यदि श्रमण स्वतः अथवा दूसरों से सुने कि यह भोजन तो दूसरों को दान देने के निमित्त बनाया गया है तो वह आहार पानी संयमी साधु

के लिये अग्राह्य है ऐसा जानकर वह साधु दाता को कहे कि इस प्रकार का आहार पानी मेरे लिये कल्प्य नहीं है।

[४९+५०] दूसरे श्रमण अथवा भिखारियों के लिये बनाये गये चारों प्रकार के भोजन के विषयमें यदि श्रमण स्वतः अथवा दूसरों से सुनकर यह जाने कि यह दूसरों को पुण्य (दान) करने के निमित्त बनाया गया है तो ऐसा भोजनपान साधु पुरुषों के लिये अकल्पनीय है ऐसा जानकर वह साधु उस दातार से कहे कि यह आहारपान मुझे ग्राह्य नहीं है।

[५१+५२] और गृहस्थों के लिये बनाये गये चारों प्रकार के भोजनों के विषयमें यदि श्रमण स्वतः अथवा दूसरों से सुनकर यह जाने कि यह भोजन तो गृहस्थ याचकों के लिये बनाया गया है तो ऐसा भोजनपान साधु पुरुषों के लिये अकल्पनीय है ऐसा जानकर वह साधु उस दातार से कहे कि यह आहार-पान मेरे लिये अकल्प्य (अग्राह्य) है।

[५३+५४] गृहस्थों द्वारा बनाये गये चारों प्रकार के आहारों के विषयमें यदि श्रमण स्वतः अथवा दूसरों से सुनकर यह जाने कि यह भोजन अन्य धर्मी साधुओं के लिये बनाया गया है तो ऐसा भोजनपान भी साधु पुरुषों के लिये अकल्पनीय है ऐसा जानकर वह साधु उस दातार से कहे कि यह आहारपान मेरे लिये अग्राह्य है।

टिप्पणी—जैन भिक्षु की वृत्ति यावन्मात्र जीवों के प्रति, भले ही वे अपने मित्र हों अथवा शत्रु हों सब के ऊपर समान होती है। उसके संपूर्ण जीवनमें दूसरों को किंचित्मात्र भी दुःख देने की भावना का कहीं भी और कभी भी लेश भी नहीं मिलता और इसी लिये उसको भिक्षा की गवेषणामें इतनी सावधानी रखनी पड़ती है। यदि दाता गृहस्थ अन्य किसी के निमित्त

बनाये गये भोजन को इसे दे देगा तो दूसरे याचकों को निराश लौटना पड़ेगा और उनके दुःख का वह स्वयं निमित्त बन जायगा। इसी लिये ऐसी तमाम भिक्षाओं को उसके लिये त्याज्य बताया है।

[५५] जो अन्नपान साधु के निमित्त ही बनाया गया हो, साधु के लिये ही खरीदकर लाया गया हो, साधु और अपने लिये अलग २ भोजन बनाया गया हो उसमें से साधु निमित्तिक भोजन अपने भोजन के साथ सम्मिश्रित हो गया हो तो ऐसा भोजन अथवा साधु के लिये सामने परोसा हुआ भोजन अथवा साधु के निमित्त घटा बढ़ा कर किया हुआ अथवा उधार मांग कर लाया हुआ तथा मिश्र किया हुआ भोजनपान भी साधु ग्रहण न करे।

[५६] कदाचित किसी नवीन वस्तु को देखकर भिक्षु को शंका हो कि इस आहार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? किसके लिये यह बनाया गया है? किसने इसे बनाया है? आदि शंकाओं का पूरा २ समाधान कर लेने पर यदि वह शुद्ध भिक्षा हो तो ही संयमी उसे ग्रहण करे (अन्यथा न करे)।

[५७+५८] सचित्त पुष्प, बीज अथवा सचित्त वनस्पति से जो भोजन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य आहार मिश्रण (परस्पर मिला गया) हो वह आहारपान संयमी पुरुषों के लिये अकल्प्य है इस लिये ऐसे मिश्र भोजन के दाता को साधु कहे कि ऐसी भिक्षा मेरे लिये ग्राह्य नहीं है।

[५९+६०] अन्न, जल, खाद्य तथा स्वाद्य इन ४ प्रकार के आहारों में से कोई भी आहार यदि सचित्त जल पर रक्खा गया हो, चींटी चींटों के बिल, लील या फुग पर रक्खा गया हो तो ऐसा आहारपान संयमी पुरुषों के लिये अकल्प्य है, इस लिये

दाता स्त्री को भिक्षु कहे कि ऐसी भिक्षा मेरे लिये ग्राह्य नहीं है।

[६१+६२] अन्न, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य इन ४ प्रकार के आहारों में से यदि कोई भी आहार अग्नि पर रक्खा हो अथवा अग्नि का स्पर्श कर के दिया जाय तो ऐसा अन्नपान संयमी पुरुषों के लिये अकल्प्य है ऐसा जानकर भिक्षु दाता स्त्री को कहे कि ऐसी भिक्षा मेरे लिये अग्राह्य है।

[६३+६४] (दाता यह जानकर कि मुनि को व्होराने में तो देर हो जायगी और इतनी देरमें कहीं आग ठंडी न पड़ जाय इस उद्देश्य से) चूला में इंधन को अंदर धकेल कर अथवा बाहर खेंचकर, अग्नि को अधिक प्रज्वलित (प्रदीप्त) करके अथवा (जल जाने के भय से) अग्निको ठंडी करके, पकते हुए अन्न में उफाल आया जानकर उसमें से कुछ निकाल कर अथवा उसमें पानी डालकर शांत कर, हिलाकर, अथवा चूल्हा पर से नीचे उतार कर आहार पान का दान करे तो ऐसा आहार पान भी संयमी पुरुषों के लिये कल्प्य नहीं है इस लिये भिक्षु उस दाता बाई से कहे कि ऐसी भिक्षा मेरे लिये ग्राह्य नहीं है।

टिप्पणी—अग्नि सजीव वस्तु होने से उसके जीवोंकी हिंसा न हो इसी उद्देश्यसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसायुक्त भोजन को भी साधु के लिये अग्राह्य बताया है।

[६५+६६] भिक्षार्थ गया हुआ साधु वर्षा ऋतुमें कीचड़से बचने के लिये रास्तेमें तख्ता, पत्थर, ईंट अथवा लांघ कर आने के लिये जो कुछ भी अन्य पदार्थ रक्खा हो, यदि वह स्थिर न हो (हिलता या डगमगाता हो) तो पंचेंद्रियों का दमन करने वाला समाधिवंत साधु उस पर होकर गमन न करे क्योंकि उसकी

जगह कितनी पोली अथवा गहरी है उसकी खबर न पड़ने से वहां संयम के भंग होजाने का डर है।

टिप्पणी—डगमगाती हुई वस्तु पर पग रखने से यदि गिर पड़ें तो शरीर को चोट लगने की और पोली जगहमें रहनेवाले जीवों की हिंसा होने की संभावना है इस लिये डगमगाती हुई वस्तु पर होकर जाने का निषेध किया है।

[६७] यदि कोई दाता, साधु के निमित्त किसी पदार्थ को सीढी, तख्ता या बाजोठ लगाकर अथवा जीना अथवा मजले पर चढकर ऊपर से लाई हुई किसी वस्तु का दान करे।

[६८] तो मजले पर चढते हुए कदाचित वह दाता बाई गिर पडे और उसके हाथ पैरों में चोट आ जाय तथा उसके पडने से वहां के पृथ्वीकायिक तथा अन्य जीवों की विराधना हो।

[६९] इस लिये इन महादोषों की संभावना को जानकर संयमी महर्षी मजले पर से लाई हुई भिक्षा को ग्रहण नहीं करते हैं।

[७०] सूरण आदि कंद, पिंडालु (शलजम) आदि की गांठ, ताडफल, पत्तों का शाक, तुमडी तथा अदरख ये वस्तुएं कच्ची हों अथवा कटी या बंटी हो (परंतु उन्हें अग्नि का संसर्ग न मिला हो) तो भिक्षु इनका ग्रहण न करे।

टिप्पणी—कच्ची और कटी बंटी हुई उक्त वस्तुओंमें जीव रहता है इस लिये भिक्षु उनका त्याग कर दे।

[७१×७२] जौ का चूर्ण (सतुआ) बेर का चूर्ण, तिलसंकरी, गुड, पूए अथवा ऐसे ही दूसरे पदार्थ, जो दुकान पर बिकते हों, वे बहुत दिनों के हों अथवा सचित्त रज से युक्त हों तो इन वस्तुओं का दान करनेवाली बाई से मुनि कहे कि ये मेरे लिये ग्राह्य नहीं हैं।

[७३×७४] जिसमें बहुत से बीज हों ऐसे सीताफल आदि जैसे फल, अनिमिष नामक वृक्ष के फल, बहुत से कांटों से युक्त अगथिया का फल, टींबरू का फल, बेल का फल, गन्ने के टुकडे (गंडेरी), सामलीबेल का फल इत्यादि फल कदाचित अचित्त भी हों फिर भी उनमें खाने योग्य भाग कम और फेंक देने का भाग अधिक होने से, ऐसे फलों के दाता को मुनि कहे कि यह भिक्षा मेरे लिये ग्राह्य नहीं है।

[७५] (अब अग्राह्य पेय गिनाते हैं:) उच्च (द्राक्ष आदि उत्तम पदार्थ का) या नीच (कांजी आदि का) पानी, गुड के वर्तन का धोवन, आटे का पानी, चावल का धोवन, यदि ये तत्काल के तैयार किये हुए हों तो भिक्षु उस पानी (पेय) का त्याग कर दे।

टिप्पणी-एक अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घडी या ४८ मिनिट तक पानी में किसी भी वस्तु के डालने पर भी वह सचित्त ही बना रहता है इस लिये इतना समय निकलजाने के बाद ही वह जल भिक्षु के लिये ग्राह्य होता है।

[७६] किन्तु यदि उस पानी को बने हुए बहुत देर होगई हो (परिणत काल बीत गया हो) तो उस पानी को अपनी बुद्धि से, दृष्टि से अथवा गृहस्थ से पूछकर अथवा उससे सुनकर यदि वह पानी शंका रहित हो तो भिक्षु उसको ग्रहण करे।

टिप्पणी-धोवन और परिपक्व पानी का रंग बदल जाता है उस पर से जान लेना चाहिये कि यह जल ग्राह्य है या नहीं।

[७७] अथवा विरुद्ध प्रकृति का शस्त्र परिणमित होने (लगने) से अचित्त बने हुए पानी को संयमी ग्रहण कर सकता है। किन्तु

अचित्त होने पर भी यदि उसको किसी भी प्रकार की शंका होती हो कि यह पानी मेरे लिये पथ्य (पेय) है किंवा नहीं तो उस पानी को चखकर जांच करे और जांचने के बाद ही उसे ग्रहण करे।

[७८×७९] उस समय भिक्षु दाता को कहे कि चखने के लिये थोडासा पानी मेरे हाथ पर दीजिये। हाथमें पानी लेने पर यदि साधु को मालूम पडे कि यह पानी बहुत खट्टा अथवा बिगड गया है अथवा अपनी प्यास बुझाने के लिये पर्याप्त नहीं है तो उस दाता बाई को साधु कह दे कि यह पानी अति खट्टा होने अथवा बिगड जाने से अथवा तृषा शांति के लिये पर्याप्त न होने से मेरे लिये कल्पनीय नहीं है।

टिप्पणी—यदि कोई भोजन या पेय अपने शरीर के लिये अपथ्य हो तो साधु उसका ग्रहण न करे क्योंकि ऐसे प्रतिकूल भोजन से उसके शरीर में रोग होजाने की और रोगिष्ठ होने से चित्त समाधिमें हानि पहुंचने की संभावना है।

[८०] यदि कदाचित बिना इच्छा के अथवा ध्यान न रहने से किसी दाताने उस प्रकार का पानी व्होरा (दिया) हो तो उस को साधु स्वयं न पिये और न दूसरे भिक्षु को पीने के लिये उसे दे।

[८१] किन्तु उस जल को एकांत में ले जाकर प्रासुक (प्राणबीज रहित) स्थान देखकर यत्नापूर्वक (किसी जीव को थोडासा भी कष्ट न पहुंचे इसका ध्यान रखकर) डाल दे और उसे डाल देने के बाद भिक्षु लौट आवे।

[८२+८३] गोचरी के लिये गये हुए साधु को (तपश्चर्या अथवा रोगादि कारण से अपने स्थान पर पहुंचने के पहिले ही

क्षुधा से पीड़ित होने से) यदि भोजन करने की इच्छा हो तो वह शून्यगृह अथवा किसी भींत (दीवाल) के मूल के पास जीवरहित स्थान को ढूंढे और ऊपर से ढंके हुए अथवा छत्रवाले उस स्थान में मेधावी साधु उस के मालिक की आज्ञा प्राप्त कर अपने हाथों को साफ करने के बाद वहां आहार करे।

[८४+८५+८६] उपरोक्त विधि से आहार करते हुए भोजन में यदि कदाचित गुठली, कंकड़ी, कांटा, घास का तृण अथवा काठ का टुकड़ा अथवा इसी तरह का और कोई दूसरा कूड़ा कर्कट निकले तो मुनि उसको (वहां बैठे २ ही) हाथ से जहां तहां दूर न फेंके और न मुंह से फूंक द्वारा उछाल कर ही फेंके किन्तु उसको हाथ में रखकर एकांत में जाय और वहां निर्जीव स्थान देखकर यत्नापूर्वक उस वस्तु का त्याग करे और वहां से ईर्यापथिक क्रियासहित लौटे।

टिप्पणी–'ईर्या' अर्थात् मार्ग। मार्गमें जाते हुए जो कुछ भी दोष हुआ हो उसको निवारण करने की क्रिया को 'ईर्यापथिकी क्रिया' कहते हैं।

[८७] और यदि अपने स्थान पर पहुंचने के बाद भिक्षा ग्रहण करने की इच्छा हो तो भोजनसहित वहां आकर सब से पहिले वह स्थान निर्जीव है कि नहीं इसको ध्यानपूर्वक देखे और बाद में उसे (अपने रजोहरण से) साफ करे।

टिप्पणी–प्रत्येक जैन भिक्षु के पास रजोहरण होता है। वह इतना कोमल होता है कि उससे झाड़ने से सूक्ष्म जीव की भी विराधना न होकर वह एक तरफ हो जाता है।

[८८] फिर बाहर से आया हुआ वह साधु उस स्थानमें प्रविष्ट होकर विनयपूर्वक गुरु के समीप आवे और (आहार को एक

तरफ रखकर मार्ग संबंधी दोषों के निवारण के लिये) ईर्यापथिकी क्रिया को प्रतिक्रमे अर्थात् कायोत्सर्ग करे।

टिप्पणी–अपने स्थानमें प्रवेश करते हुए मुनि 'निसीही' कह कर गुरु आदि पूज्य जनों को 'मत्थेण वंदामि' कह कर अभिवंदन करते हैं।

[८९] उस समय वह साधु आहार लेने के लिये जाते हुए अथवा वहां से लौटते हुए जो कुछ भी अतिचार हुए हों उन सब को क्रमपूर्वक याद करे।

[९०] इस प्रकार कायोत्सर्ग कर प्रायश्चित्त ले निवृत्त होने के बाद सरल, बुद्धिमान तथा शांत चित्तवाला वह मुनि आहारपानी की प्राप्ति किस तरह हुई आदि सब बातों को व्याकुलतारहित होकर गुरु के समक्ष निवेदन करे।

[९१] पहिले अथवा बाद में हुए दोषों की कदाचित उस समय बराबर आलोचना न हुई हो तो फिर उनका प्रतिक्रमण करे और उस समय कायोत्सर्ग कर (देहभान भूलकर) ऐसा चिंतवन करे कि:—

[९२] अहा! श्री जिनेश्वर देवोंने मोक्ष के साधनरूप साधुपुरुष के शरीर को निबाहने के लिये कैसी निर्दोषवृत्ति बताई है।

टिप्पणी–ऐसी निर्दोष भिक्षावृत्ति से संयम के आधारभूत इस शरीर का भी पालन होता है और मोक्ष की साधना में भी कुछ बाधा नहीं पडती।

[९३] (कायोत्सर्गमें उपरोक्त चिन्तवन कर) नमस्कार का उच्चारण कर कायोत्सर्ग से निवृत्त होकर वह बादमें श्री जिनेश्वर देवों की स्तुति (स्तुति रूपलोगस्स का पाठ) करे और फिर कुछ स्वाध्याय कर भिक्षु क्षणवार विश्राम ले।

[९४] विश्राम लेकर (निर्जरारूपी) लाभ का इच्छुक वह साधु अपने कल्याण के लिये इस प्रकार चिन्तवन करे कि: "दूसरे मुनिवर

मुझ पर अनुग्रह कर मेरे इस आहारमें से थोड़ासा भी ग्रहण करें तो मैं संसारसमुद्र से पार हो जाऊं"।

[९५] इस प्रकार विचार कर सब से प्रथम प्रव्रज्या (दीक्षा) वृद्ध को, उसके बाद उस से उतरते मुनि को, इस प्रकार क्रमपूर्वक सब साधुओं को आमंत्रण करे। आमंत्रण देने पर जो कोई साधु आहार करने के इच्छुक हो उन सब के साथ बैठकर मुनि आहार करे।

टिप्पणी—सब से पहिले दीक्षा वृद्ध मुनि को आमंत्रण देने का विधान विनयधर्म की रक्षा की दृष्टि से किया गया है।

[९६] यदि कोई भी साधु आहार का इच्छुक न हो तो संयमी स्वयं अकेला ही राग द्वेष दूर कर, चौडे मुखवाले प्रकाशित वर्तन में यत्नापूर्वक तथा नीचे न फैले (गिरे) इस रीति से आहार करे।

[९७] गृहस्थ के द्वारा अपने लिये बनाया हुआ एवं विधिपूर्वक प्राप्त किया हुआ वह भोजन तीखा, कडुआ, कसैला, खट्टा, मधुर अथवा नमकीन चाहे जैसा भी क्यों न हो किन्तु संयमी भिक्षु उसको मधु या घी की तरह से आरोगे (ग्रहण करे)।

टिप्पणी—इस गाथामें 'तीखा' शब्द का प्रयोग किया है इसका यह अर्थ नहीं है कि 'तीखा पदार्थ' ग्रहण करना ही चाहिये। संयमी साधु के लिये अति खट्टा, अति नमकीन और अति तीखे भोजन त्याज्य कहे गये हैं फिर भी यदि कदाचित भूलमें ऐसे पदार्थ भिक्षामें मिल जांय तो मनमें ग्लानि लाये बिना ही वह समभावपूर्वक उनको ग्रहण करे।

शहद और घी का उदाहरण देनेका कारण यह है कि जिस प्रकार शहद एवं घी को सब कोई प्रेमपूर्वक रूचि से खाते हैं उसी प्रकार

संयमी साधु कडुए या खट्टे भोजन को भी रुचिपूर्वक ग्रहण करे और मनमें कुछ भी विकार न लावे।

[९८] प्राप्त हुआ भोजन यदि रस (बघार) रहित हो अथवा पुराने अन्न का हो, उत्तम प्रकार के शाक आदि सामग्री से सहित हो अथवा रहित हो, स्निग्ध (घी आदि सचिक्कण पदार्थों से सहित) हो अथवा रूखा हो, दलिया हो अथवा उड़द के चुन्नी चोकर का बना हो।

[९९] (और) वह भोजन चाहे थोड़ा मिले या अधिक मिले फिर भी (किसी भी दशामें) साधु प्राप्त भोजन की अथवा उसके दाता की निंदा न करे परन्तु वह मुधाजीवी (केवल संयम रक्षार्थ भोजन करने का उद्देश्य रखनेवाला) साधु निर्जीव, निर्दोष, और सरलता से प्राप्त आहार को निःस्वार्थ भाव से शांतिपूर्वक आरोगे।

[१००] (महापुरुष कहते हैं कि) इस दुनियामें किसी भी प्रकार के बदले की आशा रक्खे बिना केवल निःस्वार्थ भाव से भिक्षा देनेवाला दाता और केवल संयम के निर्वाह के लिये ही निःस्वार्थ भाव से भिक्षा ग्रहण करनेवाला साधु इन दोनों का मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। निःस्वार्थी दाता और निःस्वार्थी भिक्षु दोनों ही उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—सरल मार्ग पर गमन करना, अपने उपयोगी कार्यमें ही सावधानी, जाते आते हुए मार्ग के सूक्ष्म जीवों की लक्ष्यपूर्वक रक्षा, दूसरे भिक्षुकों को किंचित भी दुःख या आघात पहुंचाये बिना और दाता की प्रसन्नता भी बराबर बनी रहे ऐसी विशुद्ध भिक्षा की गवेषणा, दाता गफलत (भूल) न करे अथवा खिन्न न हो इस बात का सतत उपयोग, निर्जीव खानपानमें सतत जागृति, भिक्षावृत्ति के स्वरूप का चिन्तवन, अन्य साधकों के

साथ सह भोजनवृत्ति और प्राप्त भोजन को निरासक्त भाव से ग्रहण करना इन समस्त बातों के आन्तरिक रहस्य को समझकर आचरण करनेवाला साधु ही आदर्श भिक्षु है। ऐसे आदर्श भिक्षु की भिक्षावृत्ति दाता के चित्तमें संयम एवं त्याग के संस्कारों को जन्म देती है।

ऐसी भिक्षावृत्ति से संयमी जीवन का निर्वाह करना यही तो पिण्डैषणा का रहस्य है और किसी भी प्रकार के भौतिक स्वार्थ अथवा कीर्ति की लालसा के बिना निःस्वार्थ भावसे दान करना यही दाता का कर्तव्य है और यही भाव उसे आध्यात्मिक विकासमें प्रेरित करता है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'पिंडैषणा' नामक पंचम अध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ।

दूसरा उद्देशक

भिक्षा शरीर की पुष्टि अथवा जिह्वा की लोलुपता की तृप्ति के लिये नहीं है और न वह प्रमोद अथवा आलस्य बढाने के ही लिये है। भिक्षा का समीचीन एकतम उद्देश्य जीवनप्रवाह को उस हद तक जीवित रखने का है जब तक पूर्ण रूपसे आत्मसिद्धि न हो। भिक्षा ग्रहण करने का उद्देश्य इस शरीर को तब तक जीवित रखने का है जब तक कि संपूर्ण कर्मक्षय न हो जाय। शरीर के अस्तित्व के बिना कर्मनाश नहीं हो सकता और उस शरीर को केवल जीवित रखने के लिये ही साधु भिक्षा ग्रहण करता है। अन्य भोजनों की अपेक्षा भिक्षा का जो महत्त्व है वह इसी दृष्टि से है। यही कारण है, कि सामान्य जनों का भोजन पापबंध का कारण होता है किन्तु वही साधु के लिये शुभकर्मास्रव कर्मनिर्जरा कर्मक्षय

का कारण है। दोनों का काम एक ही है किन्तु उन दोनों की विचारश्रेणी दूसरी ही हैं और उद्देश्य भी दूसरे ही हैं। सामान्य गृहस्थ शरीर पुष्टि के लिये भोजन करता है और साधक मुनि अध्यात्म को पुष्ट करने के लिये भोजन करता है सामान्य भोजन से मुनि की भिक्षा में यही अन्तर है।

कोई यह न समझे और कम से कम मुमुक्षु साधक तो यह कभी भी नहीं समझता कि यह शरीर केवल हाड, मांस, मज्जा, मल आदि का भाजन है, निसार है, इसकी क्या चिन्ता? यदि यह सूख गया तो क्या और इसके प्रति उपेक्षा रहे तो क्या? वस्तुतः देखा जाय तो ऐसा करना तपश्चरण नहीं है प्रत्युत एक भयंकर जड क्रिया है। जो साधक शरीर रक्षा की तरफ उपेक्षा करता है वह अपने उद्देश्य की उपेक्षा करता है। जिस तरह दूर की यात्रा करनेवाला चतुर यात्री अपनी सवारी (घोडा, ऊंट आदि) का ध्यान रखता है, उसको खानापानी देकर व्यवस्थित रखता है ठीक वैसे ही चतुर साधक अपने शरीर रूपी सवारी को कभी भी उपेक्षा दृष्टि से नहीं देखता। जिस तरह वह यात्री घासपानी के साथ २ उसे सोने चांदी के गहने नहीं पहिनाता अथवा रेशमी या मखमली गद्दी (जीन) कसने की चिंता करता है इसी तरह साधक मुनि भी इस शरीर की खोटी टापटीप, इसको पुष्ट बनाने आदि में नहीं लग जाता। यदि ऐसा करेगा तो वह अपने उद्देश्य को भूल जायगा। उसकी आत्मसिद्धि या लक्ष्यसिद्धि कभी नहीं होगी। इसी तरह शरीर को पुष्ट करनेवाले उद्देश्य भ्रष्ट साधु का शरीर उन्मत्त घोडे की तरह उसे विषयविकारों के गड्ढे में डाल देता है।

उक्त दोनों बातों को भली प्रकार समझकर चतुर साधु जिस मध्यस्थवृत्ति से भिक्षावृत्ति करते हैं उसका यहां वर्णन किया जाता है।

गुरुदेव बोले :—

[१] संयमी भिक्षु संपूर्ण आहार को, भले ही वह सुगंधित (मोदक आदि) हो अथवा गंधरहित (बिलकुल सामान्य भोजन) हो, पात्रमें अंतिम लेप (अंश) लगा हो उसको भी उंगली से साफ कर के आरोगे किन्तु पात्रमें कुछ भी अंश बाकी न छोडे।

टिप्पणी—अंतिम लेप (अंश) भी न छोडे ऐसा विधानकर इस गाथामें अपरिग्रहिता तथा स्वच्छता रखने को तरफ इशारा किया है।

[२] उपाश्रयमें या स्वाध्याय करने के स्थानमें बैठे हुए साधु को गोचरी से प्राप्त भोजन अपर्याप्त होने पर (अर्थात् उससे उसकी भूख न जाय)

[३] अथवा अन्य किसी कारण से अधिक भोजन लेने की आवश्यकता पडे तो वह पूर्वोक्त (प्रथम उद्देशक में कही हुई) विधि तथा इस (जिसका वर्णन आगे किया जाता है उस) विधि से अन्नपानी की गवेषणा (शोध) करे।

[४] चतुर भिक्षु, भिक्षा मिल सके उस समय को भिक्षाकाल जानकर गोचरी के लिये निकले और जो कुछ भी अल्प या परिमित आहार मिले उसे ग्रहण कर भिक्षाकाल पूर्ण होते ही अपने स्थानक पर वापिस आजाय। अकाल (समय के विरुद्ध कार्य) को छोडकर यथार्थ समय में उसके अनुकूल कार्य ही करे।

टिप्पणी—किस समय में क्या काम करना चाहिये किस प्रकार आचरण करना चाहिये आदि क्रियाओं का भिक्षु को सतत उपयोग रखना चाहिये।

[५] (महापुरुष कहते हैं कि) "हे साधु ! यदि समय का ध्यान रक्खे बिना तू किसी ग्रामादि स्थानमें भिक्षार्थ चला जायगा और समय की अनुकूलता प्रतिकूलता न देखेगा तो तेरी आत्मा को खेद होगा और भोजन न मिलने से तू गाम की निन्दा करेगा।"

टिप्पणी–भोजन खाया जा चुकने पर गोचरी जाने से आहार नहीं मिल सकेगा और आहार न मिलने से मुनि को दुःख होगा और यह गाम कैसा खराब है जहां मुनिको भोजन भी नहीं मिलता है आदि २ अनिष्ट विचार भी आने लगने की संभावना है।

[६] इस लिये जब भिक्षा का समय हो तभी भिक्षु को भिक्षा के लिये जाना चाहिये। भिक्षा के समुचित समय पर निकलने पर भी यदि कदाचित भिक्षा न मिले तो भी मुनि को खेद-खिन्न या दीनहीन होकर शोक नहीं करना चाहिये किन्तु ऐसा मनमें समझना चाहिये कि "चलो, अच्छा ही हुआ, यह स्वयमेव तपस्या होगई।" ऐसा मान कर वह समभावपूर्वक उस क्षुधाजन्य कष्ट को सह ले।

[७] जहां छोटे बड़े पशुपक्षी भोजन करने के लिये इकट्ठे हुए हों ऐसे स्थान के सामने होकर साधु न निकले किन्तु उपयोगपूर्वक उनसे बचकर किसी दूसरे मार्ग से निकल जाय। यदि कदाचित दूसरा मार्ग न हो तो वह स्वयं पीछे लौट आवे। (किन्तु आगे बढ़कर उनके भोजन लेने में विघ्न न डाले)

टिप्पणी–भिक्षु के सामने जाने से उन प्राणियों को भय होगा और इस कारण वे वहां से भाग या उड़ जांयगे और उन्हें भोजन ग्रहण करने में अन्तराय (विघ्न) पड़ेगा।

[८] गृहस्थ के यहां भिक्षार्थ गया हुआ संयमी साधु किसी भी स्थान पर न बैठे अथवा कहीं पर खड़े २ किसी के साथ गप्पसप्प (बातें) न करे।

टिप्पणी–गृहस्थों का अति परिचय अन्तमें संयमी जीवन के लिये बाधाकर हो जाता है इसी लिये महापुरुषोंने प्रयोजन के योग्य ही गृहस्थों के साथ संबंध रखने की और आवश्यकता से अधिक संबंध न रखने की आज्ञा दी है।

[९] गोचरी के लिये गया हुआ संयमी किसी गृहस्थ के घर की भूंगल (चिमनी), किवाड के तख्ते, और दरवाजा या किवाड का सहारा लेकर (अर्थात् उसका अवलंबन लेकर) खडा न हो।

टिप्पणी–संभव है कि उनके सहारे खडे होने से दरवाजा या किवाड आदि हिल जांय और उससे साधु के गिर पडने की आशंका हो।

[१०+११] गोचरी के लिये गया हुआ साधु अन्य धर्मों के अनुयायी श्रमण ब्राह्मण, कृपण या भिखारी जो गृहस्थ के द्वार पर भोजन अथवा पानी के लिये भिक्षार्थ खडा हो तो उसको लांघ कर गृहमें प्रवेश न करे और जहां पर उक्त मनुष्यों की उस पर दृष्टि पडे ऐसे स्थान में खडा न हो, किन्तु एकांत में (एक तरफ) जाकर खडा हो।

[१२] क्योंकि वैसा करने से वे भिखारी किंवा स्वयं दाता ही अथवा दोनों ही अप्रसन्न-चित्त होने की संभावना है और उससे अपने धर्म की हीनता दिखाई देगी।

टिप्पणी–अन्यधर्मी श्रमण, ब्राह्मण, कृपण और भिखारी ये भी स्वभावतः भिक्षा के अर्थी है। यदि साधु इनकी उपस्थितिमें भिक्षा के लिये आयगा तो वे अपने मनमें यों कहेंगे, कि यह कहां से यहां आगया ? हमारी भिक्षा में यह भी हिस्सेदार हो गया ! इस प्रकार उनको दुःख होना संभव है।

दाता भी पहिले भिक्षुकों के साथ एक नवागन्तुक भिक्षुक को आया देखकर मनमें चिढ जायगा और कहेगा, किसे २ मैं दूं? ऐसे समय में वह हलके शब्द भी कह बैठे तो आश्चर्य नहीं। एक सामान्य भिखारी जैसी दशा जैन साधु को प्राप्त हो यह जैन शासन के संयमधर्म की महत्त्व को बट्टा लगाने जैसी बात है। इन्हीं सब कारणों से उक्त प्रकार की आज्ञा दी गई है।

[१३] किन्तु गृहपति आये हुए उन भिक्षुओं को भिक्षा दे या न दे और जब वे भिक्षुक लौट जांय उसके बाद ही संयमी भोजन या पानी के लिये वहां जाय।

[१४+१५] नीलोत्पल (नीला कमल), पद्म (लाल कमल), कुमुद (चंद्र के उदित होने पर प्रफुल्लित होनेवाला सफेद कमल), मालती, मोगरा अथवा ऐसे ही किसी सुगंधित पुष्प को तोडकर कोई बाई भिक्षा दे तो वह भोजनपान संयमी के लिये अकल्प्य है इस लिये साधु उस दाता बाई को यों कहे कि यह आहारपान अब मेरे लिये ग्राह्य (कल्प्य) नहीं है।

[१६+१७] नीलोत्पल, लाल कमल, चंद्रविकासी श्वेत कमल अथवा मालती मोगरा आदि अन्य किसी सुगंधित पुष्प को बांटकर, तोड मरोड कर, अथवा पीस कर यदि कोई बाई भिक्षा व्होरावे (दे) तो ऐसा भोजनपान साधु के लिये ग्राह्य नहीं है इस लिये भिक्षा देनेवाली बाई को साधु कहे कि हे भगिनि! यह अन्नपान मेरे लिये कल्प्य नहीं है।

[१८+१९] कमल का कंद, धुइयां अरई, कमल का नाल (दंड), हरे कमल का दंड, कमल के तंतु, सरसों का दंड, गन्ने का टुकडा ये सभी वस्तुएं यदि सचित्त हों तो तथा नई २ कोंपलें (नये पत्ते); वृक्ष की, घास की अथवा अन्य वनस्पतियों की कच्ची कोंपलें आदि दातव्य भोजन में हों तो साधु उनको भी ग्रहण न करे।

[२०] और (जिनमें बीज नहीं पड़ा है) ऐसी कोमल मूंग, मटर, मोंठ आदि की फलियों को जो सेकी भी जा चुकी हों अथवा कच्ची हों तो उनको देनेवाली बहिन को भिक्षु कहे कि यह भोजन मुझे ग्राह्य नहीं है।

[२१] अग्नि से अच्छी तरह न पके हुए कोल (बोरकूट) करेले, नारियल, तिलपापडी, तथा निंबौली (नीम का फल) आदि के कच्चे फलों को मुनि ग्रहण न करे।

[२२] (और) चावल तथा तिल का आटा, सरसों का दलिया, अपक्व पानी आदि यदि कच्चे हों अथवा मिश्र पेय हों तो भिक्षु उनको ग्रहण न करे।

[२३] अपक्व कोठ का फल, बिजौरा, पत्तेसहित मूली, मूली की कातरी (कचरियां) आदि कच्चे अथवा शस्त्रपरिणत (अन्य स्वभाव विरोधी वस्तु द्वारा अचित्त) न किये गये हों तो उन पदार्थों की मुनि मन से भी इच्छा न करे।

[२४] इसी प्रकार फूलों का चूर्ण, बीजों का चूर्ण, बहेड़े तथा रिवरती के फल आदि यदि कच्चे हों तो सचित्त समझकर साधु उन्हें त्याग दे।

[२५] साधु हमेशा सामुदानिक (धनवान एवं निर्धन इन दोनों) स्थलों में गोचरी करे। वह निर्धन कुल का घर जानकर उसको लांघकर श्रीमंत के घर न जाय।

टिप्पणी—श्रीमंत हो या गरीब हो किंतु भिक्षु उन दोनों को समदृष्टि से देखे और रागरहित होकर प्रत्येक घरमें गोचरी के लिये जाय।

[२६] निर्दोष भिक्षाग्रहण की गवेषणा करने में रत और आहार की मर्यादा का जानकार पंडित भिक्षु; भोजन में अनासक्ति भाव

रक्खें और दीनभाव से रहित होकर भिक्षावृत्ति करे। वैसा करते हुए यदि कदाचित भिक्षा न भी मिले तो भी खेद-खिन्न न हो।

[२७] गृहस्थ के घर भिन्न २ प्रकार के मेवे, मुखवास इत्यादि भोजन हों फिर भी यदि वह उनको दे या न दे तो भी पंडित भिक्षु उस पर क्रोध न करे।

[२८] शय्या, आसन, वस्त्र, भोजन, पानी आदि वस्तुएं गृहस्थ के यहां प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं। फिर भी यदि वह उनको दान न दे तो संयमी साधु उस पर कोप न करे।

[२९] स्त्री, पुरुष, बालक अथवा वृद्ध जब उसको नमस्कार करते हों उस समय वह उनके पास किसी भी तरह की याचना न करे। उसी तरह आहार न देनेवाले व्यक्ति के प्रति वह कठोर शब्द भी न बोले।

[३०] यदि कोई उसे नमस्कार न करे तो साधु उस पर कोप न करे और जो कोई उसे अभिवंदन करे उस पर अभिमान व्यक्त न करे। इस प्रकार जो कोई विवेकपूर्वक संयम का पालन करता है उसका साधुत्व बराबर कायम रहता है।

[३१+३२] यदि कदाचित कोई साधु सुन्दर भिक्षा प्राप्त कर "मैं अकेला ही उसका उपयोग करूंगा। यदि मैं दूसरों को यह दिखाऊंगा तो दूसरे मुनि अथवा स्वयं आचार्य ही उसे ले लेंगे" आदि विचारों के वशीभूत होकर उस भिक्षा को लोभ से छिपाता है तो वह लालची तथा स्वार्थी (पेट भरू) साधु अति पाप का भागी होता है और वह अपने सन्तोष गुण का नाश करता है। ऐसा साधु कभी-भी निर्वाण नहीं पा सकता।

[३३+३४] और यदि कोई साधु भिन्न २ प्रकारका अन्नपान प्राप्त करके उसमें से सुन्दर २ भोजन स्वयं मार्ग में ही भोगकर अवशिष्ट ठंडे एवं नीरस आहार को उपाश्रयमें लावे जिससे अन्य साधु यह जाने कि: "यह बड़ा ही आत्मार्थी तथा रूक्ष वृत्ति से रहनेवाला सन्तोषी साधु है जो ऐसा रूखासूखा भोजन करता है"

[३५] इस प्रकार दंभसे पूजा, कीर्ति, मान तथा सम्मान पाने की इच्छा करता है वह अतिपाप करता है और मायारूपी शल्यको इकट्ठा करता है ।

टिप्पणी—माया एवं दंभ ये दोनों ही एकांत अनर्थ के मूल कारण हैं। इनका जो कोई सेवन करता है वह उस अधर्म का संचय करता है कि जिससे वह जीवात्मा उच्च स्थितिमें होने पर भी नीच गतिमें गमन करता है।

[३६] जिसके त्यागमें केवली (ज्ञानी) पुरुषों की साक्षी है ऐसा संयमी भिक्षु अपने संयम रूपी निर्मल यशका रक्षण करते हुए, द्राक्ष के आसव, महुए के रस अथवा अन्य किसी भी प्रकार के मादक रस को न पिये ।

टिप्पणी—भिक्षु किसी भी मादक पदार्थ का सेवन न करे क्योंकि मादक वस्तु के सेवन से आत्मजागृति का नाश होता है।

[३७] "मुझे यहां कोई देख तो रहा ही नहीं है" ऐसा मानकर जो कोई भिक्षु एकांत में चोरी से (छुक छिपकर) उक्त प्रकारका मादक रस पीता है उस के मायाचार तथा दोषों को तो देखो । मैं उनका वर्णन करता हूं तुम उसे सुनो ।

[३८] ऐसे साधु की आसक्ति बढ़ जाती है और छल के कारण उस के छलकपट तथा असत्यादि दोष भी बढ़ जाते हैं जिस से वह इस लोक में अपकीर्ति को तथा परलोक में अशांति को

प्राप्त होता है और साधुत्व से वंचित होकर हमेशा असाधुता को प्राप्त करता रहता है।

[३९] जिसप्रकार चोर अपने ही दुष्कर्मों के डर से हमेशा भ्रांत-चित्त रहता है उसी तरह ऐसा दुर्बुद्धि भिक्षुक भी अपने ही दुष्कर्मों से अस्थिर चित्त हो जाता है। ऐसा अस्थिर चित्त मुनि अपनी मृत्यु तक भी संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकता।

टिप्पणी—जिसका चित्त भोगों में आसक्त रहता है वह कभी भी संयम में दत्तचित्त हो ही नहीं सकता।

[४०] और मात्र वेशधारी ऐसा साधु अपने आचार्यों की अथवा दूसरे श्रमणों की भी आराधना नहीं कर सकता। महापुरुषों के उपदेशों का उसपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस कारण गृहस्थ भी उस की निंदा करते हैं क्यों कि वे सब उस की ऐसी असाधुता को स्पष्ट रूप से जान जाते हैं।

[४१] इस प्रकार दुर्गुणों का सेवन करनेवाला एवं गुणों को त्याग देनेवाला वह साधु मरणपर्यंत संवर धर्म की आराधना नहीं करने पाता।

टिप्पणी—सद्‌गुणों की आराधना से ही धर्म की आराधना होती है। जिस क्रिया से सद्‌गुणों की प्राप्ति अथवा वृद्धि न होती हो वह धर्म क्रिया कहे जाने के योग्य नहीं है।

[४२] जो कोई बुद्धिमान साधक स्निग्ध तथा स्वादिष्ट एवं अति रसों से युक्त भोजनों को छोड़ कर तपश्चर्या करता है, जो मद (अभिमान) तथा प्रमाद से निवृत्त हो, तपस्वी बन कर विकास मार्ग में आगे बढ़ता जाता है;

[४३] उस भिक्षु के कल्याणरूपी संयम की तरफ तो देखो जो अनेक साधुओं द्वारा पूजा जाता है और मोक्ष के विस्तीर्ण अर्थ का अधिकारी होता है। उसका गुण कथन मैं करता हूं, उसे तुम सुनोः—

[४४] उपरोक्त, प्रकार के सद्‌गुणों का इच्छुक तथा दुर्गुणों का त्यागी भिक्षु मरण पर्यन्त हमेशा संवर धर्म का आराधन करता रहता है।

[४५] ऐसा श्रमण आचार्यों तथा अन्य साधुओं की भी आराधना (उपासना) करता है और गृहस्थ भी उस को वैसा उत्तम भिक्षु जानकर उसकी पूजा करते हैं।

[४६] जो मुनि तपका, वाणीका, रूपका तथा आचार भावका चोर होता है वह देवयोनि को प्राप्त होने पर भी किल्विषी जात (निम्न कोटि) का देव होता है।

टिप्पणी–जो वस्तुतः तप न करता हो फिर भी तपस्वी कहलाने का ढोंग करता हो, जिसकी वाणी, रूप, तथा आचरण शास्त्रविहित न हों फिर भी उनको वैसा बताने का ढोंग करता हो वह जैन शासन की दृष्टिमें 'चोर' (भिक्षु) है।

[४७] किल्विष जाति के निम्न देवलोक में उत्पन्न हुआ वह साधक देवत्व प्राप्त कर के भी 'किस कर्म से मेरी यह गति हुई' इस बात को जान नहीं सकता।

टिप्पणी–उच्च कोटि के देवों को ही उत्तम प्रकार के भोगसुख प्राप्त होते हैं और उन्हीं का ज्ञान इतना निर्मल होता है कि जिससे वे बहुत से पूर्व जन्मोंका हालजान सकते हैं।

[४८] वह किल्विषी देव वहां से चयकर (गति करके) मूक (जो बोल न सके ऐसे) बकरे की योनि में, नरक योनि में

अथवा तिर्यंच योनि में गमन करता है जहां सम्यक्त्व (सद्बोध) की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है।

[४९] इत्यादि प्रकार के दोषों को देखकर ही ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने आज्ञा दी है कि बुद्धिमान साधक जहां लेशमात्र भी मायाचार या असत्याचार होता हो उसे छोड़ दे।

[५०] इस प्रकार संयमी गुरुओं के पास से भिक्षा की गवेषणा संबंधी शुद्धि को सीखकर तथा इन्द्रियों को समाधि में रखकर तीव्र संयमी तथा गुणवान भिक्षु संयम मार्ग में विचरण करे।

टिप्पणी—निर्भयता, भिक्षु का मुद्रालेख है। सन्तोष उसका सदा का संगी मित्र है। इसलिये भिक्षा उपस्थित होते हुए भी न मिलने पर अथवा अग्राह्य होने से छोड देने पर वह दीन अथवा खेदखिन्न नहीं होता।

रसवृत्ति का त्याग, पूजा सत्कार की वांछा का त्याग और अपथ्य वस्तुओं का त्याग ये तीन भिक्षावृत्ति के स्वाभाविक गुण हैं। सद्गुणों के भंडारमें वृद्धि करते २ ऐसा संयमी साधु सहजानंद की लहरमें ही एकांत मस्त रहता है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'पिण्डैषणा' नामक पांचवां अध्ययन समाप्त हुआ।

धर्मार्थकामाध्ययन

—(०)—

(मोक्ष के इच्छुकों का अध्ययन)

६

सद्धर्म के आचरण करने का फल मोक्षप्राप्ति है। अनन्त ज्ञानी पुरुषों का यही प्रत्यक्ष अनुभव है कि कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त हुए बिना किसी भी जीवात्मा को स्थिर, सत्य एवं अबाधित सुख प्राप्त नहीं हुआ, प्राप्त नहीं होता और प्राप्त होगा भी नहीं।

इसी लिये सुख के इच्छुक साधक मोक्षमार्ग के साधनभूत सद्धर्म की ही आराधना करना पसंद करते हैं। उस मोक्षमार्गमें सर्व प्रथम पसंदगी संपूर्ण त्याग की है। उसकी साधना करनेवाला वर्ग 'साधक' कहलाता है। त्यागी की त्यागरूपी इमारत के स्तंभ को ही आचार कहते हैं।

एक समय मोक्षमार्ग के प्रबल उपासक तथा जैनधर्म के उदार तत्त्वों को आत्मभूतकर शान्तिसागर में निमग्न रहनेवाले एक महा तपस्वी श्रमण अपने विशाल शिष्यसमुदाय सहित गांव के बाहर एकांत उद्यान में पधारे। उनके सत्संग का लाभ लेने के लिये अनेक जिज्ञासु उनके पास गये और उन परम त्यागी, शांत, दांत, तथा श्रीमान् गणिवर को अत्यन्त भावपूर्ण नमस्कार कर उनने त्याग के

आचार नियम संबंधी अनेकानेक प्रश्न किये। उनकी शंकाओं का जो समाधान किया गया उसका वर्णन इस अध्ययन में किया गया है।

अहिंसा का आदर्श, ब्रह्मचर्य के लाभ, मैथुन के दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्य पालन के मानसिक चिकित्सापूर्ण उपाय, आसक्ति का मार्मिक स्पष्टीकरण आदि सब का बहुत ही सुन्दर वर्णन इस अध्ययनमें किया गया है।

गुरुदेव बोले :—

[१] सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन से संपन्न, संयम तथा तपश्चर्या में रत, और आगम (शास्त्र) ज्ञान से परिपूर्ण एक आचार्यवर्य (अपने शिष्यसमुदाय सहित एक पवित्र) उद्यान में पधारे।

टिप्पणी—उस समयमें विशेषतः मुनिवर्ग नगर के समीप के उद्यानों में उद्यानपति की आज्ञा प्राप्तकर रहा करते थे और वहीं पर धर्मप्रवचन सुनने के लिये राजा, महाराजा, राजकर्मचारी तथा नगरजन आकर उनका लाभ लेते थे और धर्माचरण करनेमें दत्तचित्त रहा करते थे।

[२] (उस समय सद्बोध सुनने के लिये पधारे हुए) राजा, राजप्रधानों (मंत्रियों), ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा इतर वैश्यजनों ने अपने मन की चंचलता छोड़कर अत्यन्त श्रद्धा एवं विनय सहित उन महापुरुष से प्रश्न किये कि हे भगवन्! आपका आचार तथा गोचर आदि किस प्रकारके हैं, उनका स्वरूप क्या है आदि सब बातें आप कृपाकर हम से कहो।

टिप्पणी—मन की चंचलता को छोड़े बिना तत्त्व का गहरा अनुशीलन नहीं होता और न चंचल मनमें विनय तथा श्रद्धा का विकास ही होता है। विचारक दृष्टि प्राप्त करने के लिये मन की चंचलता का त्याग करने की एकतम आवश्यकता है इसी लिये उक्त गुण के अस्तित्व का विधान उन श्रोताओं में किया है। सूत्रकारने इस विशेषण का यहां उपयोग कर के

प्रकारान्तर से इस बात का उपदेश दिया है कि मुमुक्षु एवं जिज्ञासु श्रोता को मन को निश्चल बनाये बिना धर्म एवं तत्त्व की प्राप्ति नहीं होती।

इस गाथामें आचार शब्द का वास्तविक आशय धर्म अथवा धर्मपालन के मूल नियमों से है और 'गोचर' शब्द का आशय संयमपालन के उन इतर नियमों से है जिन के द्वारा मूलव्रतों की पुष्टि होती है।

[३] इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, यावन्मात्र प्राणियों के सुख के इच्छुक, और निश्चल मन रखनेवाले वे विचक्षण महात्मा शिक्षा से युक्त होकर इस प्रकार उत्तर देने लगे:—

टिप्पणी—शिक्षा के दो प्रकार हैं (१) आसेवना शिक्षा; और (२) ग्रहण शिक्षा। प्रथम शिक्षामें ज्ञानाभ्यास का समावेश होता है और दूसरीमें तदनुसार आचरण करने का समावेश होता है।

[४] (गुरुदेव बोले:) हे श्रोताओ! धर्म के प्रयोजन रूपी मोक्ष के इच्छुक निर्ग्रंथों का अति कठिन और सामान्य जनों के लिये असाध्य माने जाने वाले संपूर्ण आचार तथा गोचर का मैं संक्षेप से वर्णन करता हूं उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो।

[५] इस लोक में जिसका पालन करना अत्यन्त कठिन है उस दुष्कर व्रत एवं आचार का विधान एकान्त मोक्ष के भाजन स्वरूप एवं संयम के स्थानस्वरूप वीतराग धर्म के सिवाय अन्यत्र कहीं पर भी (किसी भी धर्म में), नहीं किया गया और न किया ही जायगा।

टिप्पणी—जैनधर्म में श्रमण तथा गृहस्थवर्ग दोनों के लिये कठिन नियम रक्खे गये हैं उन नियमों का जितने अंशमें पालन होता जाता है उतने ही अंशमें त्याग एवं तप की स्वाभाविक आराधना होती जाती है और उसीको आत्मविकास कहते हैं।

[६] पूर्व के महापुरुषोंने बाल (शारीरिक एवं मानसिक शक्ति में अपक्व), व्यक्त (शारीरिक एवं मानसिक शक्ति में परिपक्व), अथवा वृद्ध (जराजीर्ण) अथवा रोगिष्ट के लिये भी जिन नियमों को अखंड एवं निर्दोष रूप से पालन करने का विधान कर उन के स्वरूपका जैसा वर्णन किया हैं, वह मैं अब तुम्हें कहता हूं, उसे तुम ध्यान पूर्वक सुनो ।

टिप्पणी–जिन स्थानों का वर्णन नीचे किया है उनका पालन प्रत्येक साधक को भले ही वह अवस्थामें बालक हो, युवा हो, वृद्ध हो रोगिष्ठ हो या नीरोग हो, कुछ भी क्यों न हो फिर भी करना अनिवार्य है क्योंकि ये गुण साधुत्व के मूल है। इन नियमों के पालनमें किसी भी साधु के लिये कैसा भी अपवाद नहीं है। चाहे जैसे संयोगों एवं परिस्थितियों में इन नियमों का परिपूर्ण पालन करना प्रत्येक मुनि का कर्तव्य है।

[७] उस आचार के निम्नलिखित १८ स्थान हैं । जो कोई अज्ञानी साधक उन में से एक की भी विराधना करता है वह श्रमणभाव से भ्रष्ट हो जाता है ।

[८] (वे १८ स्थान इस प्रकार हैं:) छ व्रतों (पंच महाव्रत तथा छट्ठा रात्रिभोजनत्याग) का पालन करना; पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन षट्काय जीवोंपर संपूर्ण दया भाव रखना; अकल्प्य (दूषित) आहार पानी ग्रहण न करना; गृहस्थ के भाजन (बर्तन) में न खाना–पीना; उस के पलंग पर न बैठना; उस के आसन पर न बैठना; स्नान तथा शरीर की शोभा का त्याग करना ।

टिप्पणी–साधु को शरीर की शोभा बढाने के लिये स्नान, सुगंधित तैलादि लगाना अथवा टापटीप करना उचित नहीं है। गृहस्थ के बर्तन, पलंग, आसन अथवा अन्य साधनों को अपने उपयोगमें लाना ठीक नहीं है

क्योंकि ऐसा करने से विलासिता एवं परतंत्रता आती है। जहां देहभान, विलास एवं परतंत्रता आजाय वहां संयम एवं स्वावलंबन का नाश हो जाता है।

[९] (प्रथम स्थान का स्वरूप) समस्त जीवों के साथ संयमपूर्वक वर्तना यही उत्तम प्रकार की अहिंसा है और भगवान महावीर ने उसे १८ स्थानों में सब से पहिला स्थान दिया है।

टिप्पणी–संयम ही अहिंसा का बीज है। अहिंसा का उपासक संयमी न रहे तो वह अहिंसा का पालन यथोचित रीति से नहीं कर सकता मन, वचन और काय पर ज्यों २ संयम का रंग चढता जाता है त्यों २ साधक अहिंसा में आगे २ बढता जाता है ऐसा भगवान महावीरने कहा है।

अहिंसा का पालन कैसे किया जाय ?

[१०] संयमी साधक इस लोक में जितने भी त्रस एवं स्थावर जीव हैं उनमें से किसी को भी जानकर या गफलत में स्वयं मारे नहीं, दूसरों से मरावे नहीं, और न किसी मारनेवाले की प्रशंसा ही करे।

[११] (हिंसा क्यों न करे उसका कारण बताते हैं:) जगत के (छोटे बडे) समस्त जीव जीवित रहना चाहते हैं, कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता इस लिये इस भयंकर पापरूप प्राणिहिंसा को निर्ग्रंथ पुरुष सर्वथा त्याग देते हैं।

[१२] (दूसरा स्थान)—संयमी अपने स्वार्थ के लिये या दूसरों के लिये, क्रोध से किंवा भय से, दूसरों को पीडा देनेवाला हिंसाकारी असत्य वचन न कहे न दूसरों द्वारा कहलावे और न किसीको असत्य भाषण करते देख उस की अनुमोदना ही करे।

टिप्पणी—वास्तव में किसी भी प्रकारका असत्य बोलना संयमी साधक के लिये त्याज्य ही है। संयमी को कैसी भाषा बोलनी चाहिये इससंबंधी

सविस्तर वर्णन आगे के 'सुवाक्य शुद्धि' नामक ७ वें अध्ययन में आवेगा। असत्य न बोलने के साथ ही साथ साधकको असत्याचरण न करने का भी ध्यान रखना चाहिये क्यों कि इन दोनों के मूलस्वरूप चित्तवृत्ति में एक ही प्रकार का असत्य भाव छिपा रहता है। उनमें अन्तर केवल इतना ही है कि एक का प्रदर्शन वाणी द्वारा होता है तो दूसरे का कार्यों द्वारा। इसलिये इन दोनों का समावेश एक ही पापमें किया है।

[१३] क्यों कि इस लोक में सभी साधु पुरुषोंने मृषावाद (असत्य भाषण) की निंदा की है। असत्यवादी पुरुष का कोई भी जीव विश्वास नहीं करता इस लिये असत्य का सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

[१४+१५] (तीसरा स्थान) सजीव अथवा अजीव वस्तु को थोडे किंवा अधिक प्रमाण में, यहां तक कि दांत कुरेदने के एक तिनके जैसी वस्तु को भी, उस के मालिक की आज्ञा बिना संयमी पुरुष स्वयं ग्रहण नहीं करते, दूसरों द्वारा ग्रहण नहीं कराते और न अदत्त ग्रहण करनेवाले की कभी अनुमोदना ही करते हैं।

टिप्पणी–'संयमी पुरुष' इसका आशय यहां अचौर्य महाव्रतधारी पुरुषसे है क्योंकि ऐसा पुरुष ही कुछ भी परिग्रह नहीं रखता। इसने तो अपनी मालिकी की भी सर्व वस्तुओं–परिग्रहों–को विश्व के चरणों में समर्पण कर दी होती है, इसी लिये वह सामान्य से सामान्य वस्तुको भी मालिक की आज्ञा के बिना ग्रहण नहीं कर सकता। संयमी गृहस्थ इस प्रकार का संपूर्ण त्याग नहीं कर सकता इसलिये उसके लिये अनधिकार किंवा हकरहित वस्तु के ग्रहण करने की मनाई की है। इसीको अचौर्याणुव्रत कहते है। प्राप्त वस्तु में भी संयम रखना और अपरिग्रह (निर्ममत्व) भावकी वृद्धि करना इन दोनोंका समावेश गृहस्थ साधक के पंचम व्रत में होता है।

[१६] (चौथा स्थान) संयम के भंग करनेवाले स्थानों से दूर रहनेवाले (अर्थात् चारित्रधर्म में सावधान) मुनिजन साधारण जनसमूहों के लिये अत्यन्त दुःसाध्य, प्रमाद का कारणभूत एवं महा भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी भी सेवन नहीं करते हैं।

[१७] क्योंकि यह अब्रह्मचर्य ही अधर्मका मूल है। मैथुन ही महादोषों का भाजन है इसलिये मैथुन संसर्ग को निर्ग्रंथ पुरुष त्याग देते हैं।

टिप्पणी–महापुरुष ब्रह्मचर्यव्रत को सर्व व्रतों में समुद्र के समान प्रधान मानते हैं क्योंकि अन्य व्रतोंका पालन अपेक्षाकृत सरल है। ब्रह्मचर्यका पालन ही अत्यन्त कठिन एवं दुःसाध्य है। सारांश यह है कि ब्रह्मचर्य के भंग से अन्यव्रतों का भंग और उसके पालन से अन्य व्रतों का पालन सुगमता से हो सकता है।

[१८] (पांचवां स्थान) जो साधुपुरुष ज्ञातपुत्र (भगवान महावीर) के वचनों में अनुरक्त रहते हैं वे बलवण (सिका हुआ नमक), आचार आदिका सामान्य नमक, तेल, घी, गुड़ आदि अथवा इसी प्रकार की अन्य कोई भी खाद्य सामग्री का रात तक संग्रह (संचय) नहीं कर रखते हैं, इतना ही नहीं संचय कर रखने की इच्छा तक भी नहीं करते हैं।

[१९] क्योंकि इस प्रकारका संचय करना भी एक या दूसरे प्रकार का लोभ ही तो है अर्थात् इस प्रकार की संचय भावनासे लोभकी वृद्धि होती है इसलिये मैं संग्रह की इच्छा रखनेवाले साधु को साधु नहीं मानता हूं किन्तु वह एक अव्रती सामान्य गृहस्थ ही है।

टिप्पणी–सच पूछिये तो ऐसा परिग्रही साधु गृहस्थ की भी उपमा के योग्य नहीं है क्योंकि गृहस्थ तो त्याग न कर सकने के कारण अपने आपको

पूर्ण संयमी नहीं बताता, किन्तु ऐसा साधु तो अपने आपको 'साधु' पूर्ण संयमी—कहलवाता है। भावों की दृष्टि से विचार करने पर हमें मालूम होता है कि गृहस्थ के उस थोडेसे त्यागमें भी पूर्णश्रद्धा—सम्यक्त्व—की भावना छिपी हुई है तभी तो वह भगवान के कहे हुए मार्ग पर पूर्ण श्रद्धान रखकर अपनी शक्त्यनुसार उसका पालन करता है; किन्तु एक साधु तो त्याग की चरम सीमा पर पहुंच कर भी उस पदस्थ के योग्य त्याग के विरुद्ध परिग्रह इकट्ठा करने लगता है तो यह उसके लिये अतिचार नहीं किन्तु अनाचार है और स्वेच्छापूर्वक अनाचार के मूल में अश्रद्धा—मिथ्यात्व—भाव छिपा हुआ है। इसलिये आचार्योंने ऐसे मिथ्यात्वी साधु की अपेक्षा सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक को ऊंचा (श्रेष्ठ) बताया है।

[२०+२१] (यहां कोई यह शंका करे कि साधु वस्त्र, पात्र इत्यादि वस्तुएं अपने पास रखते हैं तो क्या ये वस्तुएं संग्रह या परिग्रह नहीं हैं? उसका समाधान इस गाथा में किया जाता है:) संयमी पुरुष संयम के निर्वाह के लिये जो कुछ भी वस्त्र, पात्र, कंबल, पादपुंछन, रजोहरण आदि संयम के उपकरण धारण करता अथवा पहिनता है उसको जगत के जीवों के परम रक्षक ज्ञातपुत्र भगवान महावीर देव ने परिग्रह नहीं बताया, किन्तु उस में संयम धर्म कहा है। यदि साधु उन वस्त्रादि उपकरणों में ममत्व भाव (मूर्छा भाव) करेगा तो ही वे उसके लिये परिग्रह है ऐसा ऋषीश्वर भगवान ने कहा है।

टिप्पणी—संयम के साधनों को निरासक्त भाव से भोगना इस में धर्म है क्योंकि ये संयम की रक्षा, वृद्धि एवं निर्वाह के कारण हैं किन्तु जब ये साधन ही साधन न रहकर उल्टे बंधनरूप हो जाते हैं तभी वे त्याज्य हो जाते हैं। इसीलिये, यदि सच पूंछा जाय तो संयम न तो वस्त्र धारण करने में है और न वस्त्र त्याग में, किन्तु भावना में है। इसी रहस्य को यहां समझाया है। वस्त्र तथा समस्त साधनोंका त्यागी भी यदि आसक्त है

अर्थात् त्यागभाव का उसमें विकास नहीं हुआ है तो वह तात्त्विक दृष्टि से संयमी (साधु) नहीं है ।

जैन धर्म का त्याग आत्मा से अधिक संबंध रखता है । केवल बाह्य त्याग को शास्त्रकारों ने मुख्यता नहीं दी है । यदि ऐसी मुख्यता दी जायगी तो वस्तुतः उसका कोई महत्त्व ही न रहेगा क्योंकि ऐसा मानने से संसार के समस्त पशु, रास्ते में नंगे पडे रहनेवाले भिक्षुक आदि सभी परम संयमी कहलाने लगेंगे क्योंकि उनके पास बाह्य रूप में तो किसी भी प्रकार का परिग्रह है ही नहीं । फिर वे साधु क्यों नहीं ? इसलिये अन्त में यही मानना पडेगा कि त्याग तो वही सच्चा है जो आत्मा के अन्तस्तल में से गहरे वैराग्य के प्रतिफल स्वरूप पैदा हुआ हो । इसी त्याग को जैन धर्म में 'त्याग' कहा है ।

[२२] इसलिये सब वस्तुओं (वस्त्र, पात्र आदि उपधि) तथा संयम के उपकरणों के संरक्षण करने में अथवा उनको रखने में ज्ञानी पुरुष ममत्व नहीं करते हैं; और तो क्या, अपने शरीर पर भी वे ममत्व नहीं रखते ।

टिप्पणी–संयमी पुरुष देहभान को भूल जाने की क्रियाएं सदा करते हैं । जिस शरीर का संबंध जन्म से लेकर मरणपर्यंत है और जो अज्ञानजन्य कर्मोंसे आत्मा के साथ एक रूप हो गया है ऐसे शरीर पर भी जो ममत्वभाव नहीं रखता है अथवा देहभान भूल जाने की चेष्टा करता रहता है ऐसा चरम वैराग्यवान साधु वस्त्र, पात्र, कंबल आदि पर कैसे मोह कर सकता है ? और यदि इन वस्तुओं पर उसको मोह हो तो उसे संयमी कैसे कहा जाय ?

[२३] (छट्ठा व्रत) सभी ज्ञानी-पुरुषों ने कहा है कि अहो ! साधु पुरुषों के लिये कैसा यह नित्य तप है कि जो जीवनपर्यन्त संयम निर्वाह के लिये उन्हें भिक्षावृत्ति करनी होती है और एक बार अर्थात् केवल दिवस में ही आहार ग्रहण कर रहना

होता है, और रात्रि में उनको आहार ग्रहण का सर्वथा त्याग करना होता है।

टिप्पणी–चार प्रहरों का एक भक्त होता है। 'एक भक्त' शब्द का 'एकबार भोजन करना' भी अर्थ हो सकता है किन्तु यहां उसका आशय रात्रि भोजन त्याग से ही है।

[२४] (रात्रिभोजन के दोष बताते हैं:) धरती पर ऐसे त्रस एवं सूक्ष्म स्थावर जीव सदैव व्याप्त रहते हैं जो रात्रिको अंधेरे में दिखाई नहीं देते तो उस समय आहार की शुद्ध गवेषणा किस प्रकार हो सकती है।

टिप्पणी–रात्रिको आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो सकती है तथा भोजन के साथ २ जीव जन्तुओं के पेट में चले जाने से रोग हो जाने की संभावना है। तीसरा कारण यह भी है कि रात्रिभोजन करने के बाद तुरन्त ही सो जाने से उसका यथोचित पाचन भी नहीं होता। इस प्रकार रात्रिभोजन करने से शारीरिक एवं धार्मिक इन दोनों दृष्टियों से अनेक हानियां होती हैं। इसीलिये साधु के लिये रात्रिभोजन सर्वथा निषिद्ध कहा गया है। गृहस्थों को भी इसका त्याग करना योग्य है क्योंकि इन दोषों की उत्पत्ति में उसके पदस्थ के कारण कोई भिन्नता नहीं होती।

[२५] और पानी से भीगी पृथ्वी हो, अथवा पृथ्वी पर बीज फैले हों अथवा चींटी, कुंथु आदि बहुत से सूक्ष्म जीव मार्ग में हों इन सबको दिनमें तो देखकर इनकी हिंसा से बचा जा सकता है किन्तु रात्रि को कुछ भी दिखाई न देने से इनकी हिंसा से कैसे बचा जा सकता है? (इनकी हिंसा हो जाने की पूर्ण संभावना है)

[२६] इत्यादि प्रकार के अनेकानेक दोषों की संभावना जानकर ही ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने फरमाया है कि निर्ग्रन्थ (संसार

की ग्रंथि से रहित) साधु पुरुष रात्रि में किसी भी प्रकार का आहार एवं पेय (प्रवाही पीने योग्य पदार्थ) का सेवन न करे।

[२७] (सातवां स्थान) सुसमाधिवंत संयमी पुरुष मन, वचन और काय से पृथ्वीकाय के जीवों को नहीं मारता, दूसरों द्वारा नहीं मरवाता और न किसी मारनेवाले की प्रशंसा ही करता है।

टिप्पणी–साधु पुरुष जब संयम अंगीकार करते हैं उस समय तीन करण (कृत, कारित एवं अनुमोदना) और तीन योगों (मन, वचन और काय) से हिंसा के प्रत्याख्यान लेते हैं। पहिले व्रत के ३×३=९×९=८१ भेद; दूसरे व्रत के ३×३=९×४=३६ भेद; तीसरे व्रत के ३×३=९×६=५४ भेद; चौथे व्रत के ३×३=९×३=२७ भेद; पांचवें व्रत के ३×३=९×६=५४ भेद; और छट्ठे व्रत के ३६ भेद होते हैं। इसका सविस्तर वर्णन इसी ग्रंथके चौथे अध्ययन में किया गया है।

[२८] क्योंकि पृथ्वीकाय की हिंसा करनेवाला पृथ्वी के आश्रय में रहनेवाले दृष्टिसे दीखने और न दीखनेवाले भिन्न २ प्रकार के अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा कर डालता है।

[२९] यह दोष दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर पृथ्वीकाय के समारंभ (सचित्त पृथ्वी की हिंसा करनेवाले कार्य) को साधु पुरुष जीवनपर्यन्त के लिये त्याग दे।

टिप्पणी–केवल साधु पुरुषों के लिये ही ऐसे कठिन व्रत के पालने की आज्ञा दी है क्योंकि गृहस्थजीवन तो एक ऐसा जीवन है जहां इन सामान्य पापों को किये बिना कोई काम ही नहीं हो सकता। फिर भी गृहस्थ को भी सब जगह सावधानी एवं विवेक रखना चाहिये।

[३०] (आठवां स्थान) सुसमाधिवंत संयमी पुरुष मन, वचन और कायसे अप्कायके जीवों की हिंसा नहीं करता, दूसरों से हिंसा

नहीं कराता और न दूसरों को वैसी हिंसा करते देखकर उसकी अनुमोदना ही करता है ।

[३१] क्योंकि जलकाय जीवों की हिंसा करनेवाला जलके आश्रय रहनेवाले दृश्य एवं अदृश्य भिन्न २ प्रकार के अनेक त्रस एवं स्थावर जीवों की भी हिंसा कर डालता है ।

टिप्पणी–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति सरीखे सूक्ष्म जीवों की संपूर्ण अहिंसा का पालन करना गृहस्थ जीवन में सुलभ नहीं है इसलिये गृहस्थ श्रावक के प्रथम व्रतमें सुसाध्य केवल त्रस जीवों की हिंसा का ही त्याग कराया है और उसमें भी अपना कर्तव्य बजाते समय एवं अनेक प्रसंगो में खास अपवाद नियमों का भी विधान किया है किन्तु उनसे पृथ्वी, जल आदि जीवों का गृहस्थ मनमाना दुरुपयोग या नाश करे ऐसी छूट नहीं दी गई । सातवें व्रत में गृहस्थ को खास तौरपर चेताया गया है कि वह आवश्यकता से अधिक किसी भी पदार्थ का उपयोग न करे और छोटे बड़े प्रत्येक कार्यमें जीवरक्षा की सावधानता एवं विवेक रक्खे । *

[३२] यह पाप दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर जलकाय के समारंभ को साधुपुरुष जीवनपर्यन्त के लिये त्याग दे ।

टिप्पणी–जैन सूत्रों में 'आरंभ' एवं 'समारंभ' के अर्थ 'हिंसक क्रिया करना' और 'हिंसक क्रिया के साधन जुटाना' हैं ।

[३३] (नौवां स्थान) साधु पुरुष अग्नि सुलगाने की कभी भी इच्छा न करे क्योंकि वह पापकारी है और लोहे के अस्त्रशस्त्रों की भी अपेक्षा अधिक एवं अति तीक्ष्ण शस्त्र है और उसको सह लेना अत्यंत दुष्कर है ।

[३४] और भी (अग्नि) पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण इन चारों दिशाओं तथा ईशान, नैऋत्य, वायव्य एवं आग्नेय इन चारों

* विशेष सविस्तर वर्णन जानने के लिये श्रावक प्रतिक्रमण विधि देखो ।

विदिशाओं तथा ऊपर और नीचे इन दसों दिशाओं में प्रत्येक वस्तु को जलाकर भस्म कर डालती है।

[३५] अग्नि प्राणिमात्र का नाशक (शत्रु) है—इसमें लेशमात्र की शंका नहीं है, इसलिये संयमी पुरुष प्रकाश किंवा ताप लेने के लिये कभी भी अग्निकाय का आरंभ न करे।

[३६] क्योंकि यह पाप दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर साधु पुरुष अग्निकाय के समारंभ को जीवनपर्यन्त के लिये त्याग कर देते हैं।

[३७] (दसवां स्थान) ज्ञानी साधु पुरुष वायुकाय के आरंभ (हिंसा) को भी अग्निकाय के आरंभ के समान ही पापकारी–दूषित मानते हैं इसलिये षट्काय जीवों के रक्षक साधु को वायु का आरंभ न करना चाहिये।

[३८] इसलिये ताडपत्र के पंखासे, सामान्य वीजना से अथवा वृक्षकी शाखा को हिलाकर संयमी पुरुष अपने ऊपर हवा नहीं करते हैं, दूसरों से अपने ऊपर हवा कराते नहीं हैं और दूसरों को वैसा करते देखकर उसकी अनुमोदना भी नहीं करते हैं।

[३९] और संयमी पुरुष अपने पास के वस्त्रों, पात्रों, कंबल, रजोहरण आदि (संयम के साधनों) के द्वारा भी वायु की उदीरणा (वायु उत्पन्न होने की क्रिया) नहीं करते हैं किन्तु उनको उपयोग पूर्वक संयम की रक्षा करने के लिये ही धारण करते हैं।

[४०] क्योंकि यह दोष दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर साधु पुरुष जीवन पर्यंत के लिये वायुकाय के समारंभ का त्याग कर दे।

[४१] (ग्यारहवां स्थान) सुसमाधिवंत संयमी पुरुष मन, वचन और काय से वनस्पति की हिंसा नहीं करते, दूसरों द्वारा हिंसा नहीं कराते और न वैसे किसी हिंसक की प्रशंसा ही करते हैं।

[४२] क्योंकि वनस्पति की हिंसा करने वाला वह मनुष्य वनस्पति के आश्रय में रहने वाले दृश्य एवं अदृश्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा कर डालता है।

[४३] इसलिये यह दोष दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर साधु पुरुष जीवन पर्यंत के लिये वनस्पतिकाय के आरंभ का त्याग कर दे।

[४४] (बारहवां स्थान) सुसमाधिवंत पुरुष मन, वचन और काय से त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता, हिंसा कराता नहीं और इन जीवों की हिंसा करनेवाले की प्रशंसा भी नहीं करता।

टिप्पणी-त्रसकाय अर्थात् चलने फिरने वाले जीव। इनमें द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक का समावेश होता है। कृमि, चींटी, भौंरा, पशु एवं मनुष्य इत्यादि सभी त्रस जीव कहलाते हैं।

[४५] क्योंकि त्रसजीवों की हिंसा करने वाला उन त्रसकाय जीवों के आधार पर रहते हुए अन्य दृश्य एवं अदृश्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा कर डालता है।

[४६] और यह दोष दुर्गति का कारण है ऐसा जानकर साधु पुरुष जीवन पर्यंत के लिये त्रसकाय के जीवों की हिंसा का त्याग कर दे।

टिप्पणी-ऊपर जिन बारह स्थानों का वर्णन किया है वे साधु के 'मूलगुण' कहलाते हैं। अब आगे ६ उत्तर गुणों का वर्णन करते हैं। 'मूलगुणों को पुष्ट करने वाले गुण को 'उत्तर गुण' कहते हैं।

[४७] (तेरहवां स्थान) आहार, शय्या, वस्त्र, तथा पात्र इन चार प्रकारों में से किसी भी प्रकार की वस्तु को, जो साधु पुरुष के लिये अकल्प्य (अग्राह्य) हो उसको भिक्षु कभी भी ग्रहण न करे अर्थात् इनमें से जो कोई भी वस्तु अकल्प्य हो उसे त्याग कर संयमी अपने संयम पालनमें दत्तचित्त रहे।

टिप्पणी–श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने दो प्रकार के अकल्प्य माने हैं। (१) शिक्षा स्थापनाकल्प अर्थात् पिंडनिर्युक्ति तथा आहारादि की एषणाविधि जाने बिना आहार ग्रहण करना और उसमें दोष होने की संभावना होने से उसे अकल्प्य कहा है; तथा (२) स्थापनाकल्प–इनका वर्णन निम्नलिखित गाथाओं में दिया गया है। ऐसी वस्तुओं को साधु पुरुष कभी भी ग्रहण न करे।

[४८] आहार, शय्या, वस्त्र एवं पात्र इन चार वस्तुओं में से संयमी साधु के लिये जो २ वस्तु अकल्प्य हों उन्हें ग्रहण करने की साधु कभी भी इच्छा तक न करे किन्तु जो कोई कल्प्य हों उन्हें ही वह ग्रहण करे।

[४९] जो कोई साधु (१) नियाग (नित्यक) पिंड (अर्थात् नित्य प्रति एक ही घर से आहार लेना) अथवा 'ममायंति (अर्थात् जो कोई ममत्व भाव से आमंत्रण दे वहीं आहार लेना), (२) भिक्षु के लिये ही खरीद कर लाया हुआ आहार लेना, (३) साधु के निमित्त ही बनाया गया आहार ग्रहण करना, (४) दूर २ से आकर साधु को आहार दें ऐसे आहार को ग्रहण करना–इन प्रकार के दूषित आहार पानी को जो साधु ग्रहण करता है वह भिक्षु (परोक्ष रीति से) जीवहिंसा का अनुमोदन करता है ऐसा भगवान् महावीर ने फरमाया है।

टिप्पणी–अपने निमित्त से किसी जीवकी हिंसा न हो तथा किसी को दुःख न हो उस प्रकार से आहार प्राप्त कर संयमी जीवन का निर्वाह करना यही भिक्षुओं का धर्म है।

[५०] इसलिये संयम में स्थिर चित्तवाला धर्मजीवी निर्ग्रंथ पुरुष क्रीत, औद्देशिक, आहृत आदि दोषों से युक्त आहार पानी ग्रहण नहीं करता।

टिप्पणी—इसका सविस्तर वर्णन जानने के लिये इसी ग्रंथ का तीसरा अध्ययन देखो।

[५१] (चौदहवां स्थान) गृहस्थ के कांसा आदि धातुओं के प्यालों, दूसरे वर्तनों (गिलास, लोटा, थाली आदि) अथवा मिट्टी के वर्तन में आहार करनेवाला भिक्षु अपने संयम से भ्रष्ट हो जाता है।

[५२] (क्योंकि गृहस्थ के वर्तनों में जीमने से) उसके वर्तनों को यदि धोना पडे तो ठंडे सचित्त पानी की हिंसा होगी और उसको दूर फेंकने से अन्य बहुत से जीवों की हिंसा होगी, इसीलिये तीर्थंकरादि देवोंने वैसा करनेमें असंयम कहा है।

टिप्पणी—ऊपर ऊपर से देखने से तो यहां ऐसा मालूम होता है कि यदि ऐसी सामान्य बातसे भी साधुके संयम का लोप हो जाया करें तो संयमी कैसे जीवित रह सकता है? परन्तु इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने पर मालूम हो जायगा कि सामान्य दीखती हुई स्खलना भी क्रमशः थोडी २ देर बाद दूसरी अनेक भूलों को जन्म देती रहती है और अन्तमें परिणाम इतना भयंकर आता है कि संयम से भ्रष्ट होने का मौका आ पडता है। इसीलिये साधु के लिये सामान्य जैसी भूलों से सतत जागृत रहने का विधान किया है।

गृहस्थों के वर्तनों में भोजन करने से संयमी में इतर दोषों के भी पैदा होजाने की संभावना है इसीलिये अपने ही काष्ठ, मिट्टी के पात्रों में भोजन करने का संयमी के लिये विधान किया गया है।

[२३] फिर गृहस्थ के बर्तनों में भोजन करने से पश्चात्कर्म तथा पुराकर्म ये दोनों दोष लगने की भी संभावना है। इसलिये साधुओं के लिये उनमें भोजन करना योग्य नहीं है ऐसा विचार कर निर्ग्रंथ पुरुष गृहस्थ के बर्तनों में भोजन नहीं करते हैं।

टिप्पणी–पुराकर्म तथा पश्चात्कर्म का खुलासा इसीग्रंथ के पांचवें अध्ययन में प्रथम उद्देशक की ३२ वीं तथा ३५ वीं गाथामें किया है।

[२४] (पन्द्रहवां स्थान) सन की चारपाई, निवार का पलंग, सन की रस्सियों से बने हुए मचान तथा बेंत की आराम कुरसी आदि आसन पर बैठना या सोना (लेटना) साधु पुरुष के लिये अनाचीर्ण (अयोग्य) है।

[२५] इसलिये तीर्थंकरकी आज्ञा का आराधक निर्ग्रंथ मुनि उक्त प्रकार की चारपाई, पलंग, मचान अथवा बेंत की कुरसी पर नहीं बैठता है क्योंकि वहां पर रहे हुए सूक्ष्म जीवों का प्रतिलेखन बराबर नहीं हो सकता और साधु जीवन में विलासिता आ जाने की आशंका है।

[२६] उक्त प्रकार के आसनों के कोनों में नीचे या आसपास अंधेरा रहा करता है इस कारण उस अंधेरे में रहने वाले जीव बराबर न दीखने से उनपर बैठते हुए उनकी हिंसा होजाने की आशंका है। इसलिये महापुरुषोंने इस प्रकार के मचान तथा पलंग आदि पर बैठने का त्याग करने की आज्ञा दी है।

[२७] (सोलहवां स्थान) गोचरी के निमित्त गृहस्थ के घर बैठना योग्य नहीं है क्योंकि ऐसा करने में निम्नलिखित दोष लगने की संभावना है और अज्ञान की प्राप्ति होती है।

गृहस्थ के घर बैठने से लगनेवाले दोष

[५८] ब्रह्मचर्य व्रत के पालने में विपत्ति (क्षति) आने की संभावना है। वहां प्राणीओं का वध होने से साधु का संयम दूषित हो सकता है। यदि उसी समय अन्य कोई भिखारी भिक्षार्थ आवे तो उसको आघात होने की संभावना है और इससे उस गृहस्थ का कोप भाजन बन जाने का डर भी है।

टिप्पणी—गृहस्थ स्त्रियों के अति परिचय से कदाचित् ब्रह्मचर्य भंग हो जाने का डर है। गृहस्थ स्त्री, परिचय होने से रागी बन कर उस भिक्षु के निमित्त खानपान बनावे जिसमें जीवों की विराधना होने का डर है और घर के मालिक को भी मुनि के चरित्र पर संदेह होने से क्रोध करने का अवसर आ सकता है। इत्यादि दोष परंपराओं पर विचार करके ही महर्षियोंने भिक्षु को गृहस्थ के घर जाकर बैठने की मनाई की है।

[५९] गृहस्थ के घर जाकर बैठने से ब्रह्मचर्य का यथार्थ पालन (रक्षण) नहीं हो सकता और गृहस्थ स्त्री के साथ अतिपरिचय होने से दूसरों को अपने चरित्र पर शंका करने का मौका मिल सकता है। इसलिये ऐसी कुशीलता (दुराचार) को बढाने वाले स्थान को संयमी दूर ही से छोड दे (अर्थात् मुनि गृहस्थों के यहां आकर न बैठे)।

टिप्पणी—गृहस्थों के यहां शारीरिक कारण बिना बैठना अथवा कथावार्ता आदि कहना ये सब बातें संयम की घातक हैं इसलिये इनका त्याग करना उचित है।

[६०] किन्तु रोगिष्ठ, तपस्वी अथवा जरावस्था से पीडित इनमें से किसी भी प्रकार का साधु गृहस्थ के घर कारणवश बैठे तो वह कल्प्य है।

टिप्पणी—रोग, तपश्चर्या तथा बुढापा शरीर को शिथिल बना देते हैं। इसलिये गोचरी के निमित्त गया हुआ ऐसा साधु थक कर हाँफने लगे या

थक जाय तो गृहस्थ के यहां उनकी आज्ञा ले कर विवेकपूर्वक अपनी थकावट दूर करने के लिये वहां बैठ सकता है। यह एक अपवाद मार्ग है। इसका एक या दूसरे प्रकार से लाभ लेकर कोई अनर्थ न कर बैठे इसकी सब साधुओं को संभाल रखनी चाहिये।

[६१] (सत्रहवां स्थान) रोगिष्ठ किंवा निरोगी कोई भी भिक्षु यदि स्नान की प्रार्थना करे (अर्थात् स्नान करना चाहे) तो इससे अपने आचार (संयम धर्म) का उल्लंघन होता है और उससे अपने व्रतमें क्षति आती है ऐसा वह माने।

[६२] क्योंकि क्षारभूमि अथवा दूसरे किसी भी प्रकार की वैसी भूमि पर असंख्य अतिसूक्ष्म प्राणी व्याप्त रहते हैं इसलिये यदि भिक्षु गर्म पानी से भी स्नान करेगा तो उन (जीवों की) विराधना हुए बिना न रहेगी।

[६३] इस कारण ठंडे अथवा गर्म (सजीव अथवा निर्जीव) किसी प्रकार के पानी से देहभान से सर्वथा दूर रहनेवाला साधु स्नान नहीं करता और जीवन पर्यन्त इस कठिन व्रत का पालन करता है।

टिप्पणी—स्नान से जिस प्रकार शरीर शुद्धि होती है उसी प्रकार सौंदर्य वृद्धि भी होती है और इसी दृष्टिबिंदु से सिर्फ त्यागी के लिये इसे निषिद्ध कहा है।

यद्यपि वैद्यक के नियमों के अनुसार त्यागी के लिये भी देहशुद्धि की आवश्यकता तो है ही किन्तु वह शुद्धि तो सूर्य की किरणों आदि से भी हो सकती है। दूसरा कारण यह भी है कि साधु पुरुष का आहार, विहार और निहारादि क्रियाओं के नियम ही कुछ ऐसे हैं कि जिनसे स्वभावतः उनका शरीर स्वच्छ रहता है। इस के साथ ही साथ वह ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का भी पालन करता है इस कारण उसका शरीर भी अक्षुण्ण

नहीं होता है। परंतु यदि कदाचित् शरीर की अशुध्धि हो तो जैन सत्रोंने त्यागी को सबसे पहिले उस अशुध्धि को दूर करने की छूट दी है और जब तक शुध्धि न हो जाय तब तक स्वाध्यायादि कोई भी धार्मिक क्रिया न करने का खास भारपूर्वक आग्रह किया है। (विशेष विस्तृत वर्णन के लिये छेद सूत्र को देखो)

इस के ऊपर से स्नान करना किस दृष्टिसे, किस के लिये, और किस स्थितिमें त्याज्य है उसका सुज्ञ पुरुष को विवेकपूर्वक विचार करना उचित है। सूत्रकारने उसका ६६ वीं गाथामें समाधान भी किया है।

[६४] (अट्ठारहवां स्थान) संयमी पुरुष स्नान, सुगंधी चन्दन, लोध्र कुंकुम, पद्मकेशर आदि सुगंधित पदार्थों को कभी भी अपने शरीर पर न लगावे और न उनका मर्दन आदि ही करे।

[६५] प्रमाणोपेतवस्त्रवाले (यथाविधि प्रमाणपूर्वक वस्त्र रखनेवाले) स्थविरकल्पी अथवानग्न जिनकल्पी अवस्थावाले, द्रव्य से तथा भाव से मुंडित (केशलोच करनेवाले), दीर्घ रोम तथा नख रखनेवाले तथा मैथुन से सर्वथा विरक्त ऐसे संयमी के लिये विभूषा सजावट या शृंगार की क्या जरूरत है ?

टिप्पणी—सारांश यह है कि देहभान से सर्वथा दूर और सांसारिक पदार्थों के मोह से विरक्त त्यागी को अपने शरीर को सजाने की कोई भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि शरीर शृंगार भिक्षु के लिये भूषण नहीं किन्तु एक बड़ा दूषण है।

[६६] (यदि साधु अपने शरीर की सजावट करे तो) विभूषा के निमित्त से भिक्षु ऐसे चीकने कर्मों का बंध करता है कि जिनके कारण वह दुस्तर भयंकर संसाररूपी सागर में गिरता है।

टिप्पणी—स्नान हो, चन्दनविलेपन हो अथवा वस्त्र हो कुछ भी क्रिया क्यों न हो, किन्तु जब वह शरीरविभूषा के निमित्त की या पहनी जाती

है तब वह साधक के लिये उल्टी बाधक हो जाती है और इसीलिये वह त्याज्य है।

[६७] क्योंकि ज्ञानीजन विभूषासंबंधी संकल्प विकल्प करनेवाले मनको बहुत ही गाढ कर्मबंध का कारण मानते हैं और इसीलिये सूक्ष्म जीवों की रक्षा करने वाले साधु पुरुषोंने उसका मन से भी कभी सेवन (चिन्तवन) नहीं किया।

टिप्पणी–शरीर की टापटीप में जिस का चित्त संलग्न रहता है ऐसा पुरुष तत्संबंधी अनेक प्रकार के दोष कर डालता है और उसका चित्त सदा भ्रांत रहता है।

[६८] मोह रहित, वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूपमें देखनेवाला तथा संयम, ऋजुता तथा तपमें रक्त साधुपुरुष अपनी आत्माकी दुष्ट प्रकृति को खपा देते (क्षय कर देते) हैं। वे निर्ग्रंथ मुनि पूर्व संचित पापों के बंधों को भी क्षय कर देते हैं और नये पापबंध नहीं करते हैं।

[६९] सर्वदा उपशांत, ममत्वरहित, अपरिग्रही, आध्यात्मिक विद्या का अनुसरण करने वाले, यशस्वी, तथा प्रत्येक छोटे बड़े जीवों का आत्मवत् रक्षण करने वाले साधक शरदऋतु के निर्मल चंद्रमा के समान कर्ममल से सर्वथा रहित होकर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं अथवा स्वल्पकर्म अवशिष्ट रहने पर उच्च प्रकार के देवलोक में उत्तम जाति के देव होते हैं।

टिप्पणी–आचार धर्म के व्रत त्यागी जीवन के अनिवार्य नियम हैं इन नियमों में अपवादों को लेशमात्र भी जगह नहीं है क्योंकि उसपर ही तो त्यागी जीवन की रक्षा का आधार है।

आचार के इन १८ स्थानों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ महाव्रत हैं और ये मूलगुण हैं। मूलगुण ये इसलिये हैं

क्योंकि समस्त प्रकारों के त्याग के मूल ये हैं। इनके सिवाय १२ गुण और हैं और ये सब इन मूलगुणों को परिपुष्ट बनाते हैं। इसलिये भिक्षुको चाहिये कि वह अपने मूलगुणों की रक्षामें सदैव जागृत रहे।

रात्रिभोजन शारीरिक एवं धार्मिक दोनों दृष्टियों से त्याज्य है। अहिंसा की संपूर्ण आराधना के लिये ६ प्रकार के जीवों का ज्ञान करने के समान ही उनकी रक्षापूर्ण आचार रखना जरूरी है। और इतनी ही आवश्यकता शरीर सौंदर्य तथा गृहस्थसंसर्ग इत्यादि के त्याग की है।

पतन के निमित्तों से दूर रहकर मात्र साधुजीवन की साधना में तल्लीन रहने के लिये ही, साधु के नियमों का विधान हुआ है। कोई भी साधक इन नियमों को पराधीनता का चिन्ह समझ कर छोड़ देने की भूल न करे और न इनकी तरफ बेदरकार ही बने क्योंकि नियमों की पराधीनता साधक-जीवन के लिये उपयोगी हीं नहीं किंतु कार्यसाधक भी है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'धर्मार्थकाम' नामक छठा अध्ययन समाप्त हुआ।

सुवाक्यशुद्धि

—(०)—

(भाषा संबंधी विशुद्धि)

७

जिस प्रकार साधक के लिये कायिक संयम अनिवार्य एवं आवश्यक है उसी प्रकार साधक के लिये वचनशुद्धि की भी पूर्ण आवश्यकता है।

वाणी अन्तःकरण के भावों को व्यक्त करनेका एक साधन है और इतनी ही इसकी उपयोगिता है। इसलिये निष्कारण वाणी के उपयोग को वाचालता अर्थात् वाणी का दुरुपयोग कहा है। यही कारण है कि विशेष कारण के बिना सज्जन पुरुष बहुत कम बोलते हैं यहां तक कि वे बहुधा मौन से ही रहते हैं।

जो कोई भी वाणी का दुरुपयोग करता है वह अपनी शक्ति का दुर्व्यय करता है, इतना ही नहीं, उतनी ही उसकी वाणी की शक्ति भी नष्ट होती जाती है। इसका फल यह होता है कि सामने के आदमी पर अभीष्ट असर नहीं पड़ता, साथ ही साथ उसमें असत्य अथवा कठोरता आने का भी डर रहता है।

इसलिये वाणी कैसी और कहां बोलना उचित है यह विषय साधक के दृष्टिबिंदुसे अतीव उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है और इसका वर्णन इस अध्ययन में विस्तार के साथ किया गया है।

गुरुदेव बोले :-

[१] प्रज्ञावान भिक्षु चार प्रकार की भाषाओं के स्वरूपों को भली-भांति जानकर उनमें से दो प्रकार की भाषा द्वारा विनय सीखे अर्थात् दो प्रकार की भाषा का विवेकपूर्वक उपयोग करे किन्तु बाकी की दो प्रकार की भाषाओं का तो सर्वथा उपयोग न करे।

टिप्पणी–भाषा के चार प्रकार हैं: (१) सत्य, (२) असत्य, (३) मिश्र, और (४) व्यवहारिक। इनमें से पहिली और अन्तिम इन दो भाषाओं को भिक्षु विनयपूर्वक बोले और असत्य तथा मिश्र भाषाओं का सर्वथा त्याग कर दे। सत्य और व्यवहारिक भाषा भी पाप और हिंसा रहित हो तो ही बोले, अन्यथा नहीं।

[२] (अब सत्य भाषा भी किस प्रकार की बोलनी चाहिये इसका स्पष्टीकरण करते हैं:) बुद्धिमान भिक्षु अवक्तव्य (न बोलने योग्य) सत्य हो तो उसे न बोले (जैसे बाजार में जाते हुए कोई कसाई पूंछे कि तुमने मेरी गाय देखी है तो इसके उत्तर में गाय को उधर से जाते हुए देखनेवाला उत्तर दाता यह न कहे कि "हां, देखी है, वह इधर से गई है, आदि"। क्योंकि उसका परिणाम हिंसामय ही होगा, इसलिये ऐसी सत्यभाषा भी महादूषित कही गई है।) इसी प्रकार मिश्र भाषा अर्थात् वह भाषा जो थोडी सत्य हो और थोडी असत्य, मृषा भाषा (असत्य भाषण) इन दोनों को तीर्थंकरोंने त्याज्य कहीं हैं इसलिये वाक्संयमी साधु इन दोनोंको न बोले।

[३] बुद्धिमान भिक्षु असत्यामृषा (व्यवहारिक) भाषा तथा सत्य भाषाओं को भी पापरहित, अकर्कश (कोमल) तथा संदेह रहित ('नरो वा कुंजरो वा' के समान संदिग्ध भाषा नहीं) रूपसे ही विचारपूर्वक बोले।

टिप्पणी–कठोर भाषाका परिणाम बहुत ही वैर तथा मनोमालिन्य बढानेवाला होता है। वाणी भाव को व्यक्त करने का अनुपम साधन है इसलिये आचरण शुद्धि के लिये जितनी भावशुद्धि की आवश्यकता है उतनी ही वचनशुद्धि की भी आवश्यकता है। साधक को भी संसार में ही प्रवृत्ति करनी होती है और जीभद्वारा अपने मनोगत भाव व्यक्त करने के लिये भाषा का व्यवहार करना पड़ता है। ऐसी भाषा उपयोगिता तथा सर्वव्यापकता की दृष्टिसे भीजी हुई होनी चाहिये, इतना ही नहीं किन्तु साधु के मुख से झरती हुई वाणी मीठी एवं कर्तव्यसूचक भी होनी चाहिये।

[४] (मिश्रभाषा के दोष बताते हैं) बुद्धिमान भिक्षु मात्र हिंसक तथा परपीडाकारी भाषा न बोले, इतना ही नहीं किन्तु सत्यामृषा (मिश्र) भाषा भी न बोले क्योंकि ऐसी भाषा भी शाश्वत अर्थ (अर्थात् शुद्ध आशय) में बाधा डालती है।

टिप्पणी–थोडा सत्य और थोडा असत्य मिली हुई भाषा को 'मिश्र' भाषा कहते हैं। ऐसी मिश्र भाषा बोलना भी उचित नहीं है क्योंकि मिश्र भाषा में सत्य का कुछ अंश होने से भोली जनता अधिक प्रमाण में धोखा खा जाती है। इसके सिवाय वह अपनी आत्मा को भी धोखा देती है। इसलिये सत्यार्थी साधक के लिये ऐसी भाषा ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों हितों में बाधक है।

[५] अज्ञात भाव से भी जो साधक असत्य होने पर भी सत्य जैसी लगनेवाली भाषा बोलता है वह पापकर्म का बन्ध करता है तो फिर जो जानबूझ कर असत्य बोलता है उसके पाप का तो पूंछना ही क्या है ?

टिप्पणी–जैसे किसी पुरुष ने स्त्रीका रूप धारण किया हो तो यदि कोई उसे स्त्री कहे तो तात्त्विक दृष्टिसे तो यह झूंठ ही है तो फिर जो कोई सरासर झूंठ बोले उसके पाप का क्या ठिकाना है ?

पाप का आधार प्रवृत्ति पर भी है। जैसी प्रवृत्ति होगी वैसा ही उसका फल होगा। जैसे विष पिनेवाले की मृत्यु स्वयं हो जाती है, अर्थात् मृत्यु को बुलाना नहीं पड़ता उसी तरह पापकर्म का दुष्परिणाम स्वयमेव होता रहता है। अंतर केवल इतना ही है कि यदि वह पाप आसक्तिपूर्वक न हुआ हो तो उसका पश्चात्तापादि द्वारा निवारण हो सकता है और यदि वह आसक्तिपूर्वक किया गया होगा तो उसके भयंकर परिणाम को भोगे बिना छुटकारा हो ही नहीं सकता।

[६X७] (निश्चयात्मक भाषा भी नहीं बोलनी चाहिये इसका विधान कहते हैं) "मैं जरूर जाता हूं अथवा जाऊंगा, हम करेंगे ही, हमारा यह काम होकर ही रहेगा अथवा ऐसा अवश्य होगा ही, मैं अमुक काम कर ही डालूंगा अथवा अमुक आदमी उसे अवश्य कर ही डालेगा" आदि निश्चयात्मक वाक्य भिक्षु न बोले क्योंकि वर्तमान एवं भविष्य के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

टिप्पणी–अनिश्चयात्मक वस्तु को निश्चयात्मक कहने से अनेक दोषों के होने की संभावना है। साधु की जिम्मेदारी जन सामान्य की अपेक्षा बहुत अधिक होने से उसके वचनों पर विश्वास रखकर कोई कुछ कार्य कर न बैठे जिस से पीछे पछताने का अवसर आवे इसीलिये साधु पुरुष को कभी भी निश्चयात्मक वाणी नहीं कहनी चाहिये। अनेक वस्तुएं निश्चित होने पर भी यदि मुनि को उसकी निश्चितता की खबर न हो तो वह उसको भी निश्चित रूपसे न बोले। सारांश यह है कि साधु बहुत उपयोगपूर्वक अपने पर की जवाबदारी का ध्यान रखते हुए भाषा का प्रयोग करे।

[८] भिक्षु भूतकाल, भविष्यकाल अथवा वर्तमानकाल संबंधी जिस किसी बात को न जानता हो उसके विषयमें 'ऐसा ही होगा अथवा ऐसा ही है" आदि प्रकार के निश्चयात्मक वाक्य-प्रयोग न करे।

[९] और भूतकाल, भविष्यकाल और वर्तमानकाल के किसी काम के विषयमें यदि किंचित् भी शंका हो (अर्थात् जिस कार्य का निश्चय न हो) उसके संबंधमें 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार का निश्चयात्मक वाक्यप्रयोग न करे।

[१०] परन्तु भूत, भविष्य तथा वर्तमानकाल में जो वस्तु (कार्य) संशयरहित और दोषरहित हो उसी के विषयमें 'यह ऐसा ही है' इत्यादि प्रकार का निश्चयात्मक वाक्य कहे। (अर्थात् परिमित भाषा द्वारा उस सत्य बात को प्रकट करे)

[११] जिन शब्दों से दूसरे जीवों को दुःख हो ऐसे हिंसक एवं कठोर शब्दों को, भले ही वे सत्य ही क्यों न हों फिर भी साधक अपने मुंह से न कहे क्योंकि ऐसी वाणी से पापास्रव होता है।

[१२] काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर आदि वाक्य प्रयोग, यदि सत्य भी हों तो भी, वाक्संयमी साधु न बोले।

टिप्पणी—क्योंकि ऐसी सच्ची बात कहने से सुननेवाले को दुःख होता है और दूसरों को दुःख देना भी एक प्रकार की हिंसा ही तो है। इसलिये जब तक निर्दोष सत्य भाषा बोली जा सके तहां तक ऐसी दूषित भाषा का उपयोग करना ठीक नहीं है।

[१३] आचार एवं भाव को गुण दोषों को समझनेवाला विवेकी साधु इस प्रकार के अथवा अन्य किसी दूसरे प्रकार के सुनने वाले को कष्टप्रद अथवा उसको चुभनेवाले शब्दप्रयोग न करे।

[१४] बुद्धिमान भिक्षु; रे मूर्ख, रे लंपट (वेश्या) रे कुतिया, रे दुराचारी, रे कंगाल! रे अभागी! आदि २ संबोधन किसी स्त्री के प्रति न कहे।

[१५] और हे दादी ! हे बड़ी दादी ! हे माता ! हे मौसी ! हे बुआ ! हे भानजी ! हे बेटी ! हे नातिनी !

टिप्पणी–भले ही गृहस्थाश्रम में रहते हुए ये संबंध रहे हों फिर भी साधुने तो उन संबंधों को एकबार छोड़ दिया है इसलिये त्यागी होने से उसके लिये उन संबंधों को पुनः याद करना ठीक नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि ऐसा करने से मोह बढ़ता है।

[१६] इसी तरह अरे फलानी (कोई भी अमुक), अरे सखी ! अरी लड़की ! आदि २ सामान्य तथा अरी नौकरनी ! अरी शेठाणी, अरे गोमिनी (गाय की मालकिन), रे मूर्ख, रे लंपट, रे दुराचारी यहां आ ! इत्यादि प्रकार के अपमान जनक शब्दों से किसीको न बुलावे और न किसी को उस तरह से संबोधे ही।

टिप्पणी–ऐसे अपमान जनक एवं अविवेकी शब्द बोलने से सुनने वाले को दुःख पहुंचता है इसलिये ऐसी वाणी संयमी पुरुष के लिये त्याज्य है।

[१७] (आवश्यकता होने पर किस तरह बोलना चाहिये ?) किसी स्त्री के साथ वार्तालाप करने का प्रसंग आने पर मधुर भाषामें उसका नाम लेकर और (यदि नाम न आता हो तो) योग्यतानुसार उसके गोत्र को नामका संबोधन करके एकवार अथवा (आवश्यकता होने पर) अनेक बार भिक्षु उससे बोले।

टिप्पणी–वार्तालाप का प्रसंग आने पर सामने के दूसरे व्यक्ति की लघुता व्यक्त न होती हो ऐसी रीतिसे विवेकपूर्वक ही संयमी पुरुष बोले।

[१८×१९] इसी तरह पुरुष के साथ वार्तालाप करने का प्रसंग आने पर हे बप्पा, हे बाबा, हे पिता, हे काका (चाचा), हे मामा, हे भानजे, हे पुत्र, हे पौत्र आदि मोहजनक संबन्धसूचक विशेषणों का अथवा अरे फलाने, हे स्वामी ! हे गोमिक ! हे

मूर्ख ! हे लंपट ! हे दुराचारी ! आदि कर्कश संबोधनों का प्रयोग साधु न करे।

[२०] परन्तु दूसरे की योग्यतानुसार उसका नाम लेकर अथवा उसके गोत्रानुसार नामका संबोधन करके आवश्यकतानुसार एकबार या अनेकबार बोले।

[२१] इस तरह मनुष्यों के सिवाय इतर पंचेंद्रिय प्राणियों में से जब तक उसके नर या मादा होने का निश्चय न हो तब तक वह पशु अमुक जातिका है, बस इतना ही कहे किन्तु यह नर है या मादा ऐसा कुछ भी न बोले।

[२२×२३] इसी तरह मनुष्य, पशु, पक्षी या सांप (रेंगनेवाले कीटकादि) को यह मोटा है, इसके शरीरमें मांस बहुत है इस लिये वध करने योग्य है अथवा पकाने योग्य है आदि प्रकार के पापी वचन साधु न बोले।

किन्तु यदि उसके संबंधमें बोलना ही पडे तो यदि वह वृद्ध हो तो उसे वृद्ध अथवा जैसा हो वैसा सुन्दर है, पुष्ट है, नीरोग है, प्रौढ शरीरका है आदि निर्दोष वचन ही बोले (किन्तु सावद्य वचन न बोले।)

[२४] इसी तरह बुद्धिमान भिक्षु गायों को देखकर 'ये दुहने योग्य हैं' तथा छोटे बछडों को देखकर 'ये नाथने योग्य हैं' अथवा घोडों को देखकर ये रथमें जोडने योग्य हैं इत्यादि प्रकार की सावद्य भाषा न बोले।

[२५] परन्तु यदि कदाचित् उसके विषयमें बोलना ही पडे तो भिक्षु यों कहे कि यह बैल तरुण है, यह गाय दुधार है अथवा यह बैल छोटा या बडा है अथवा यह घोडा रथमें चल सकता है।

टिप्पणी–जिस वचनके निमित्तसे अन्य प्राणियोंको दुःख न पहुंचे वैसी दोष रहित भाषा ही साधु बोले।

[२६×२७] तथा उद्यान, पर्वत या वनमें गया हुआ अथवा वहां जाकर निवास करनेवाला बुद्धिमान साधु वहां के बडे २ वृक्षों को देखकर इस तरह के शब्द न बोले कि "ये इन वृक्षों के काष्ट महेल के योग्य स्तंभों, घरों के योग्य तोरणों, पाटीया (स्लीपर), शहतीर, जहाज, अथवा नावों आदि बनाने के योग्य हैं।

[२८] तथा यह वृक्ष बाजोठ, कठौठी, हल की मूठ, खेतमें अन्नके ढेरों पर ढंकने के लकडी के ढक्कन, घानीकी लाट, गाडीके पहिये या उसके मध्य की नाभि अथवा चरखे की लाट अथवा सुनार की एरण बनाने के योग्य हैं।

[२९] अथवा बैठने के आसन के लिये, सोने के पलंग के लिये, घरकी नसैनी (सीढी) आदि के लिये उपयुक्त हैं–इत्यादि प्रकार की हिंसाकारी भाषा बुद्धिमान भिक्षु कभी न बोले।

टिप्पणी–ऐसा बोलनेसे कहीं कोई उस वृक्ष को काट कर उक्त सामान बना डाले तो वह भिक्षु उक्त हिंसामें निमित्त माना जायगा।

३०×३१] इस लिये उद्यान, पर्वत तथा वनमें गया हुआ बुद्धिमान भिक्षु वहां के बडे २ वृक्षों को देखकर यदि अनिवार्य आवश्यकता आ पडे तो ही यों कहे; "ये अशोकादि वृक्ष उत्तम जातिके हैं, ये नारियलके वृक्ष बहुत बडे हैं, ये आमके वृक्ष वर्तुलाकार हैं, बड आदि वृक्ष अच्छे विस्तृत हैं, तथा ये सब शाखा, प्रतिशाखाओं से व्याप्त, रमणीय एवं दर्शनीय इत्यादि इत्यादि हैं।"

[३२×३३] और आम आदि फल हों तो वे पक गये हैं। अथवा पाल आदिमें देकर पकाने योग्य हैं अथवा वे कुछ समय बाद खाने

योग्य हो जांयगे, अथवा अभी खाने योग्य हैं, बादमें सड़ जांयगे, अथवा अभी इन्हें काटकर खाना चाहिये इत्यादि प्रकार की सावद्य भाषा साधु न बोले किन्तु खास आवश्यकता होने पर यों कहे कि "इस आम्रवृक्षमें बहुत से फल लगे हैं जिनके बोझसे वृक्ष झुक कर नम्र हो गये हैं; इस बार फल बहुत अधिक आये हैं, अथवा ये फल अतिशय सुन्दर हैं इत्यादि प्रकार की निरवद्य भाषा ही बोले।

[३४] और अन्नकी बेलों या फलियों को, बालोंको अथवा सेंगा फलियों के संबंधमें यदि कुछ कहने का अवसर आवे तो बुद्धिमान साधु यों न कहे कि पक गई हैं इनकी छाल हरीं हैं, यह पापडी पक गई हैं और लूनने योग्य हैं, अथवा ये सेकने योग्य हैं। अथवा इन अन्नों को भिगोकर खाना चाहिये।

[३५] परन्तु बुद्धिमान साधु यदि आवश्यकता आ पडे तो यों कहे कि "यहां वनस्पति खूब उगी है, बहुत अंकुर फूट निकले हैं, इनमें मोर, बाल आदि निकल आये हैं, इन वृक्षोंकी छाल इतनी मजबूत है कि जिसपर पालेका कोई असर नहीं पडेगा, इनके गर्भमें दाना आगया है अथवा दाना बाहर निकल आया है, इस अन्नके गर्भमें दाना नहीं पडा है अथवा चावल की बालोंमें दाना पड गया है" इस प्रकार की निरवद्य भाषा ही बोले।

[३६] यदि किसीके यहां दावत हुई हो तो उसे देखकर "यह सुन्दर बनी है या सुन्दर बनाने योग्य है, अथवा किसी चोर को देखकर "यह चोर मारने-पीटने योग्य है" तथा नदियों को देखकर 'ये सुन्दर किनारेवाली हैं; इनमें तैरने या क्रीडा करने से बडा मजा आयेगा, इत्यादि प्रकार की सावद्य भाषा न बोले।

[३७] यदि कदाचित् उनके विषयमें बोलना ही पड़े तो दावत को दावत कहे, चोरके विषयमें 'धन के लिये इसने चोरी की होगी। तथा नदियों के विषय में इनके किनारे समान हैं इस प्रकार की परिमित भाषा ही साधु बोले।

[३८] तथा नदियों को जलपूर्ण देखकर "इन नदियों को तैर कर ही पार किया जा सकता है, इन्हें नावद्वारा पार करना चाहिये अथवा इनका पानी पीने योग्य है" इत्यादि प्रकार की सावद्य भाषा साधु न बोले।

[३९] परन्तु यदि कदाचित इनके विषयमें बोलना ही पड़े तो बुद्धिमान साधु नदियों के विषयमें ये नदियां अगाध जलवाली हैं, जलकी कल्लोलों से इनका पानी खूब उछल रहा है और बहुत विस्तारमें इनका जल बह रहा है आदि २ निर्दोष भाषा ही बोले।

[४०] और यदि किसीने किसी भी प्रकार की दूसरे के प्रति पापकारी क्रिया की हो अथवा करनेवाला हो उसे देखकर या जानकर बुद्धिमान साधु ऐसा कभी न कहे कि "उसने यह ठीक किया है या वह ठीक कर रहा है"।

[४१] और यदि कोइ पाप क्रिया हो रही हो तो "यह बड़ा ही अच्छा हो रहा है अथवा भोजन बना रहा हो उसे अच्छी तरह बना हुआ बताना; अमुक शाक अच्छा कटा है, कृपण के धन-हरण हो जाने पर 'चलो, अच्छा हुआ', अमुक पापी मरगया हो तो 'अच्छा हुआ' यह मकान सुन्दर बना है, तथा यह कन्या उपवर (विवाह योग्य) हो गइ है इत्यादि प्रकार के पापकारी वाक्य बुद्धिमान मुनि न कहे।

[४२] किन्तु यदि उनके विषयमें बोलना ही पड़े तो साधु; बने हुए भोजनों के विषयमें 'यह भोजन प्रयत्न से बना है', करे हुए

शाकके विषयमें 'यत्नाचार पूर्वक करा हुआ शाक' कन्या को देखकर 'संभाल पूर्वक लालनपालन की हुई तथा साध्वी होने के योग्य कन्या' शृंगारों के विषयोंमे 'ये कर्मबंध के कारण हैं' तथा घायल को देखकर 'अति घायल' आदि २ अनवद्य वाक्य प्रयोग ही साधु करे।

[४३] यदि कभी किसी गृहस्थके साथ वर्तालाप करने का प्रसंग आजाय तो उस समय 'यह वस्तु तो सर्वोत्कृष्ट है, अति मूल्यवान है, अनुपम है, अन्यत्र मिल ही नहीं सकती ऐसा अनुपम अलभ्य यह है, यह वस्तु बेचने योग्य नहीं है, किंवा स्वच्छ नहीं है, यह वस्तु अवर्णनीय है, अप्रीतिकर है आदि २ प्रकारके सदोष वाक्य-प्रयोग साधु न करे।

टिप्पणी-बहुत बार ऐसा होता है कि हमें वस्तुके गुणदोषोंका यथार्थ ज्ञान नहीं होता जिसके कारण हम थोडेसे मूल्यकी वस्तुको भी बहु मूल्य या अमूल्य बता देनेकी भूलकर बैठते हैं। इससे अपना तो अज्ञान प्रकट होता और वस्तुकी यथार्थ कींमत भी ज्ञात नहीं होती इसलिये साधु किसी भी वस्तुकी आकस्मिक प्रशंसा या अप्रशंसा न करे। सारांश यह है कि साधुको बहुत ही मितभाषी होना चाहिये। जहां अनिवार्य आवश्यकता हो वहीं, और वह भी बडे विवेक के साथ नपेतुले शब्द ही बोले।

[४४] "मैं तुम्हारी ये समाचार उससे कह दूंगा, अथवा तुम मेरा यह सन्देश अमुक आदमी से कहना" आदि प्रकार की बातें साधु न कहे किन्तु प्रत्येक स्थल (प्रसंग) में पूर्ण विचार करके ही बुद्धिमान साधु बोले।

टिप्पणी-कई बार ऐसे प्रसंग आते हैं कि गृहस्थजन साधुओंको अमुक संदेश अमुक व्यक्ति से कहने की प्रार्थना करते हैं तो उस समय 'हां मैं उनसे कह दूंगा' ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि एकके मुखसे निकली हुई

भाषा दूसरे के मुखसे उन्हीं शद्वोंमें नहीं निकलती–शद्वोंमें कुछ न कुछ हेर-फेर हो ही जाता है। इसी दृष्टिसे ऐसे व्यवहारमें साधुको न पड़ने के लिये कहा गया है।

[४५] 'तुमने अमुक माल खरीद कर लिया यह अच्छा किया, अमुक वस्तु बेच डाला' यह ठीक किया, यह माल खरीदने योग्य है अथवा खरीदने योग्य नहीं है इस वस्तुके सौदेमें आगे जाकर लाभ होगा इसलिये इसे खरीद लो, इस सौदेमें लाभ नहीं है इसलिये इसे बेच डालो' इत्यादि प्रकारके व्यापारीके लिये उपयुक्त वाक्य भी संयमी पुरुष कभी न बोले।

टिप्पणी–इस व्यवहारमें आत्मिक एवं बाह्य दोनों प्रकारोंसे पतन होता है। जब साधु इस तरह का वाक्य प्रयोग करता है तब उसके संयमको दूषण लगता है और बाह्य दृष्टिसे भी ऐसे साधुके प्रति लोगोंको अप्रीति होती है। दूसरी बात यह भी है कि कुछ बातें उसमें झूंठी भी हो सकती है इससे गृहस्थको लाभके बदले हानि हो सकती है। इसी प्रकार के अन्य अनेक दोष इसमें छिपे हुए हैं इसीलिये महापुरुषोंने साधुको भविष्य-विद्या सीखनेकी मना की है क्योंकि ऐसा शास्त्र पात्रताके विना बहुधा हानिकर्ता ही सिद्ध होता है।

[४६] कदाचित् कोई गृहस्थ अल्पमूल्य या बहुमूलय वस्तुके विषयमें पूछना चाहे तो मुनि उसके संयम धर्ममें बाधा न पहुंचे इस प्रकारका अदूषित वचन ही बोले।

[४७] और धीरमुनि किसी भी गृहस्थ को 'बैठो, आओ, ऐसा करो, लेट जाओ, खड़े हो जाओ' इत्यादि २ प्रकार के वचन न बोले।

टिप्पणी–गृहस्थके साथ अतिपरिचय में न आने के लिये ही यह बात कही गई है क्योंकि संयमी के लिये असंयमियों का अतिसंसर्ग हानिकर्ता होताहै।

[४८] इस लोकमें बहुत से केवल नाममात्र के साधु होते हैं। उनका वेश तो साधुका होता है किन्तु उनमें साधु के गुण नहीं होते ऐसे असाधुको साधु न कहे किन्तु साधुताका धारक ही साधु है ऐसा कहे।

टिप्पणी–वस्तुतः साधुपदकी जवाबदारी बहुत बडी है। किसी व्यक्तिमें साधुत्व के गुण न होने पर भी यदी साधु उसे साधु कहे तो जनता उसके वचनों पर विश्वास रख कर भ्रममें पड जायगी इतना ही नहीं, उसको देखकर जनता के मन पर साधुत्वके प्रति अरुचि भी पैदा हो सकती है। दूसरा कारण यह भी है कि ऐसे कुसाधुकी संगतिसे इस साधुके चरित्र पर अवांछनीय असर पडेगा और यह असंभव नहीं कि उसके बहुतसे दुर्गुण उसमें आजांय। इत्यादि अनेक कारणोंसे ऐसा विधान किया गया है।

सच्चे साधुका स्वरूप

[४९] सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन से संपन्न तथा संयम एवं तपश्चर्या में अनुरक्त तथा ऐसे अन्य गुणों से सहित संयति को ही साधु कहते हैं।

टिप्पणी–सच्चा विवेक, सच्ची समझ, इंद्रियों तथा मनका संयम तथा सच्ची तपश्चर्या इन चारों गुणोंकी समन्वयता, अधिकता, को ही साधुता कहते हैं। साधुता की ऐसी सुवास जहां है वहीं साधुत्व है।

[५०] देवों, मनुष्यों, अथवा पशुओं के पारस्परिक युद्ध या द्वन्द्व जहां चालू होंतो 'अमुक पक्षकी जीत हो' अथवा 'अमुक की जीत होनी चाहिये, अथवा अमुक पक्षकी जीत नहीं, अथवा अमुक पक्षको हारना पडेगा आदि प्रकार के वाक्य भिक्षु न बोले।

टिप्पणी–इस प्रकार बोलने से उनमें से एक पक्षके हृदयको आघात पहुंचने की संभावना है।

[२१] "वायु, वृष्टि, ठंड या गर्म हवा, उपद्रव की शांति, सुकाल, तथा दैवी उपसर्ग की शांति इत्यादि बातें कब होंगी अथवा ऐसी हो या ऐसी न हों" इत्यादि प्रकारकी संयम धर्मको दूषित करनेवाली भविष्यवाणी भिक्षु न कहे और न उस तरह का कोई आचरण ही करे।

टिप्पणी–ऐसा करनेसे दूसरे लोगों को दुःख होने की संभावना है। उस दुःखका निमित्त होना साधुके लिये योग्य नहीं है।

[२२] उसी प्रकार बादल, आकाश, या राजा जैसे मानव को 'यह देव है' ऐसा न कहे; किन्तु मेघको देखकर साधु, यदि आवश्यकता हो तो "यह मेघ चढता आता है, ऊंचा घिरता आता है, पानी से भरा है, अथवा यह बरस रहा है" इत्यादि प्रकारके अदूषित वाक्य ही कहे।

टिप्पणी–उस समयमें बादल, आकाश या ब्राह्मणवर्गको सामान्य जनता 'देव' मानती थी और उनमें कोई विशिष्ट अद्भुतता भरी हुई मानती थी। इस प्रकारकी झूंठी अद्भुतताके मानने से झूंठे वहमों एवं अकार्मण्य आदि दोषोंकी वृद्धि होना स्वाभाविक है इस लिये जैन शासन के महापुरुषोंने व्यक्तिपूजा एवं वस्तुपूजा का विरोध कर केवल गुणपूजाका ही महत्त्व बताया है।

[२३] अनिवार्य आवश्यकता होने पर आकाशको अंतरिक्ष अथवा गुह्यों (एक प्रकार के देवों) के आनेजानेका गुप्त मार्ग कहे अथवा किसी ऋद्धिमान या बुद्धिमान मनुष्यको देखकर वह ऋद्धिशाली या बुद्धिमान मनुष्य है बस इतना ही कहे।

टिप्पणी–किसीकी झूंठी प्रशंसा किंवा झूंठी अद्भुतता व्यक्त न करे।

[२४] और साधु क्रोध, लोभ, भय या हास्य के वशीभूत होकर पापकारी, निश्चयकारी, दूसरों को दुःखानेवाला वाक्य हंसी या मजाकमें भी किसी से न कहे।

[५५] इस प्रकार मुनि वाक्यशुद्धि और वाक्य की सुन्दरता को समझकर सदैव दूषित वाणीसे दूर रहे। इस कथनका जो कोई साधु विवेकपूर्वक चिन्तन करके परिमित एवं अदूषित वाक्य बोलता है वही साधु सत्पुरुषोंमें आदरणीय होता है।

टिप्पणी–मैं जो कुछ बोल रहा हूं उसका क्या परिणाम आयगा, इस पर खूब विचार कर लेनेके बाद ही जो कोई बोलता है उसकी वाणी में स्वच्छता एवं सफलता दोनों रहती हैं।

[५६] भाषा के गुणदोषों को भली प्रकार जानकर, विचार (मनन) करके उसमें से बुरी भाषाको सदैव के लिये त्याग करनेवाला षड्काय जीवोंका यथार्थ संयम पालन करनेवाला, साधुत्व पालन में सदैव तत्पर, ज्ञानी साधक परहितकारी एवं मधुर भाषा ही बोले।

[५७] और इस प्रकार दूषित एवं अदूषित वाक्य की कसौटी करके बोलनेवाला, समस्त इंद्रियोंको अपने वशमें रखनेवाला, समाधिवंत, क्रोध, मान, माया और लोभसे रहित अनासक्त भिक्षु अपने संयम द्वारा नवीन कर्मोंको आते हुए रोकता है और पूर्वसंचित पाप कर्म रूपीमलको भी दूर करता है और अपने शुद्ध आचरण द्वारा दोनों लोकों को सिद्ध करता है।

टिप्पणी–इस लोक में अपने सुन्दर संयमसे सत्पुरुषोंमें मान्य बनता है और अपने आदर्श त्याग तपश्चर्या के प्रभावसे परलोकमें उत्तम देवयोनि अथवा सिद्ध गतिको प्राप्त होता है।

आवश्यकता के बिना न बोलना, बोलना ही पड़े तो विचारपूर्वक बोलना, असत्य न बोलना, सत्य ही बोलना, किन्तु वह सत्य दूसरे को दुःखप्रद एवं कर्णकटु न हो, सुननेवाले को उस समय अथवा बादमें पीड़ा न हो ऐसा विवेकपूर्ण वचन ही बोलना चाहिये।

इस वाक्यशुद्धि की जितनी आवश्यकता मुनिको है उतनी ही नहीं किन्तु उससे भी बहुत अधिक जरूरत गृहस्थ साधकों को है क्योंकि वाणीकी शुद्धि पर ही क्रियाशुद्धिका बहुत बडा आधार है इतना ही नहीं किंतु क्रोधादि षड्रिपुओं को वशीभूत करने के लिये भी मृदु, स्वल्प, सत्य तथा स्पष्ट वाणी की जरूरत है।

ऐसा मैं कहता हूं:-

इस प्रकार 'सुवाक्यशुद्धि' नामक सातवां अध्ययन समाप्त हुआ।

आचारप्रणिधि

(सदाचारका भंडार)

८

सद्गुणोंको सब कोई चाहता है। सज्जन होनेकी सभीकी इच्छा हुआ करती है किन्तु सद्गुणोंकी शोधकर साधना करनेकी तीव्र इच्छा, तीव्र तमन्ना किसी विरले मनुष्यमें ही पाई जाती है।

सद्गुण प्राप्तिका मार्ग सरल नहीं है और वह सरलता से प्राप्त होने योग्य भी नहीं है। इसका मार्ग तो दुर्लभ एवं दुःशक्य ही है।

मानसिक वृत्ति दुराग्रहों, हठाग्रहों एवं मान्यताओं को बदलना, उनको मन, वाणी एवं कायाका संयमकर त्यागमार्ग के बिकट पंथकी तरफ मोड देना यह कार्य मृत्युके मुखमें पडे हुए मनुष्यके संकट से भी अधिक संकटाकीर्ण है।

इस सद्वर्तनकी आराधना करनेवाले साधकको शक्ति होने पर भी प्रतिपल क्षमा रखनी पडती है। ज्ञान, बल, अधिकार एवं उच्च गुण होने पर भी सामान्य जनोंके प्रति भी समानता एवं नम्रताका व्यवहार करना पडता है। वैरीको वल्लभ मानना पडता है, दूसरों के दुर्गुणों की उपेक्षा करनी पडती है। सैंकडों सेवकों के होने पर भी स्वावलंबी एवं संयमी बनना पडता है। सैंकडों प्रलोभनों के सरल मार्गकी तरफ

दृष्टि न डालकर त्यागकी तंग एवं गहरी गलीमें होकर जाना पडता है।

इन सब कष्टोंको उत्साह एवं स्नेहपूर्ण हृदय से सहनकर उमंग सहित जो ध्येयमार्ग में बढता जाता है वही उग्र साधक सद्गुणोंके संग्रह को सुरक्षित रख सकता है, पचा सकता है और उसके सारका रसास्वाद कर सकता है ऐसे सदाचारी साधुको कहां २ और किस तरह जागृत रहना होता है उसका मानसिक, कायिक तथा वाचिक संयम के तीनों अंगों की भिन्न २ दृष्टिबिन्दुओं से की हुई विचार परंपरा इस अध्ययनमें वर्णित है जो साधक जीवन के लिये अमृत के समान प्राणदायी है।

गुरुदेव बोले :—

[१] सदाचार के भंडार स्वरूप साधुत्वको प्राप्त कर भिक्षुको क्या करना चाहिये वह मैं तुमको कहता हूं। हे भिक्षुओ! तुम उसे ध्यानपूर्वक सुनो।

[२] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, हरियाली घास, सामान्य वनस्पति, वृक्ष, बीज तथा चलने फिरनेवाले जो इतर प्राणी हैं वे सब जीव हैं ऐसा महर्षि (सर्वज्ञ प्रभु) ने कहा है।

टिप्पणी–इस विश्व में बहुत से जीवजन्तु इतने सूक्ष्म होते हैं जो आंखसे दिखाई नहीं देते, फिरभी उनकी वृद्धि, हानि, भावना, इत्यादि के द्वारा यह जाना जा सकता है कि वे जीव हैं। आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषणों द्वारा यह बात भलीभांति सिद्ध कर दिखाई गई है कि वृक्ष भी हमारी तरह से सुख, दुःख, शोक, प्रेम इत्यादि बातोंका अनुभव करते हैं। यावन्मात्र जीव भले ही वे छोटे हों या बडे, जीवित रहना चाहते हैं, और सभी सुख चाहते हैं, दुःखसे डरते हैं। इसलिये प्रत्येक सुखैषी मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह दूसरे जीवोंकी रक्षा करे और अपना आचरण इस तरह का रखना जिससे दूसरोंको सुख पहुंचे।

[३] उन जीवों के प्रति सदैव अहिंसक वृत्तिसे रहना चाहिये। जो कोई मन, वचन और कायसे अहिंसक रहता है वही साधक आदर्श संयमी है।

टिप्पणी–ज्यों २ इच्छाएं और आवश्यकताएं घटती जाती हैं त्यों २ हिंसा भी घटती जाती है और ज्यों २ हिंसा घटती है त्यों २ अनुकंपा (दया) भाव बढता जाता है। इसलिये सच्चा संयमी ही सच्चा अहिंसक कहलाने का दावा कर सकता है। जो अहिंसक है वह न्यूनाधिक रूपमें हिंसक होगा ही, फिर चाहे उसकी हिंसा स्थूल जीवोंकी हो या सूक्ष्म जीवों की; प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, वह स्वयं करता हो अथवा दूसरों के द्वारा कराता हो, कुछ न कुछ भाग इसका उसमें है अवश्य।

[४] (जैन साधु प्रत्येक जीवकी अहिंसाका पालन किस तरह करे उसका वर्णन करते हैं) समाधिवंत संयमी पृथ्वी, भींत (दीवाल), सचित्तशिला या मिट्टी के ढेले को स्वयं न तोडे और न खोदे ही, दूसरों द्वारा तुडवावे नहीं और न खुदवावे ही, और यदि कोई व्यक्ति उनको तोड या खोद रहा हो तो उसकी अनुमोदना भी न करे। इस प्रकार तीन करणों (कृत, कारित, अनुमोदन) से तथा मन, वचन और काय इन तीन योगोंसे संयमी हिंसा न करे।

[५] और सजीव पृथ्वीपर या सजीव धूलसे सने हुए आसनपर न बैठे किन्तु बैठनेकी यदि आवश्यकता ही हो तो मालिक की आज्ञा प्राप्त कर उसका संमार्जन (झाड पोंछ) कर बादमें उसपर बैठे।

टिप्पणी–संमार्जन करने की आवश्यकता इसलिये है कि सजीव धूल झड जाय और उससे सूक्ष्म जीवों की रक्षा हो। इस क्रिया के लिये जैन साधु रजोहरण नामक उपकरण (संयमका साधन) सदैव अपने पास रखते हैं।

[६] संयमी भिक्षु ठंडा पानी, पालेका पानी, सचित्त बर्फका पानी न पिये किन्तु अग्निसे खूब तपाये हुए तथा धोवन का निर्जीव पानी ही ग्रहण करे और उपयोग में ले।

टिप्पणी–चौथे अध्यायमें पहिले यह कहा जा चुका है कि पानीमें उसके प्रकृतिविरुद्ध पदार्थ को मिल जाने से वह निर्जीव (प्रासुक) हो जाता है। इस कारण यदि ठंडे पानीमें गुड, आटा अथवा ऐसी ही कोई दूसरी चीज पडी हो तो वह ठंडा पानी भी (अमुक मुद्दत बीतने पर) प्रासुक हो जाता है। ऐसा प्रासुक पानी यदि अपनी प्रकृति के अनुकूल हो किन्तु अग्नि तथा न हो तो भी, भिक्षु उसको ग्रहण कर सकता है।

[७] संयमी मुनि उसका शरीर कारणवशात् सचित्त जलसे भीग गया हो तो उसे वस्त्रसे न पोंछे और न अपने हाथोंसे देह को मले किन्तु जलकायिक जीवोंकी रक्षामें दत्तचित्त होकर अपने शरीर को स्पर्श भी न करे।

टिप्पणी–मलशंका दूर करने (टट्टी जाने) के लिये नगर बाहर जाते समय यदि कदाचित बरसात पडने से मुनिका शरीर भीग जाय तो उस समय साधु क्या करे उसका समाधान उक्त गाथामें किया गया है। अन्यथा बरसाद पडते समय उपर्युक्त कारण सिवाय मुनिको स्थानकके बाहर जाना निषिद्ध है।

[८] मुनि जलते हुए अंगारे को, आगको अथवा चिनगारी को, जलते हुए काष्ठ आदि को सुलगावे नहीं, हिलावे नहीं और बुझावे भी नहीं।

[९] और ताडके वीजने से, पंखेसे, वृक्षकी शाखा हिलाकर अथवा वस्त्र आदि अन्य वस्तु हिलाकर अपने शरीर पर हवा न करे अथवा गर्म आहारादि वस्तुओंको ठंडी करने के लिये उनपर हवा न करे।

[१०] संयमी भिक्षु; घास, वृक्ष, फल किंवा किसी भी वनस्पति को जड़ (मूल) को न काटे तथा भिन्न २ प्रकार के बीजों अथवा वैसी ही कच्ची वनस्पति को खानेका विचार तक भी न करे।

[११] मुनि लतागुल्मों अथवा वृक्षोंके झुंडके बीचमें खड़ा न रहे और बीज, हरी वनस्पति, पानी, कठफूला जैसी वनस्पतियां तथा बीज या फूल पर कभी न बैठे।

[१२] यावन्मात्र प्राणियों की हिंसासे विरक्त भिक्षु मन, वचन अथवा कायसे त्रस जीवों की हिंसा न करे। परन्तु इस विश्वमें (छोटे बडे जीवों के) जीवनों में कैसी विचित्रता (भिन्नता) है उसे विवेकपूर्वक देखकर संयममय आचरण करे।

टिप्पणी—बहुत बार ऐसा होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी दया पालनेवाला आदमी बडे जीवोंको दुःख न पहुंचने की स्पष्ट बातको भी भूल जाता है। छोटी वस्तुकी रक्षाकी चिन्तामें बडी वस्तुकी रक्षाका ध्यान प्राय नहीं रहा करता। इस लिये यहां पर त्रसजीवों की हिंसा न करने की खास आज्ञा दी है।

[१३] (अब अत्यंत सूक्ष्म जीवोंकी दया पालने को आज्ञा देते हैं) प्रत्येक जीवके प्रति दयाभाव रखनेवाला संयमी साधु निम्नलिखित आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवोंको विवेकपूर्वक देखकर, उनका संपूर्ण बचाव (रक्षण) करके ही बैठे, उठे अथवा लेटे।

[१४] वे आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव कौनसे हैं? इस प्रकार के प्रश्न का विचक्षण एवं मेधावी गुरु इस प्रकार उत्तर देते हैं:—

[१५] (१) स्नेह सूक्ष्म—ओस, कुहरे आदिका सूक्ष्म जल आदि (२) पुष्प सूक्ष्म—बहुत छोटे फूल आदि (३) प्राणी सूक्ष्म—सूक्ष्म कुंथु आदि जीव, (४) उत्तिंग सूक्ष्म—चींटी, दीमक के घर, (५) सूक्ष्म—नीलफूल आदि, (६) बीज सूक्ष्म—बीज, आदि (७) हरित

सूक्ष्म-हटे अंकुर आदि, (८) अंड सूक्ष्म-चींटी, मक्खी आदि के सूक्ष्म अंडे।

[१६] समस्त इंद्रियों को वशीभूत रखनेवाला संयमी भिक्षु उपर्युक्त आठ प्रकार के सूक्ष्म प्राणियों के स्वरूप को भलीभांति जानकर अपना व्यवहार ऐसा उपयोगपूर्ण रक्खे जिससे उन जीवोंको कुछ भी पीड़ा न हो।

[१७] संयमी भिक्षु नित्य उपयोगपूर्वक (स्वस्थ चित्त रखकर एकाग्रता पूर्वक) पात्र, कंबल, शय्यास्थान, उच्चार भूमि, बिछौना अथवा आसनका प्रतिलेखन करे।

टिप्पणी-आंखसे जीव जन्तुओंको बराबर उपयोगपूर्वक देखे और यदि जीव हों तो उनको क्षति पहुंचाये बिना एक तरफ हटादे। इस क्रियाको प्रतिलेखन क्रिया कहते हैं। इसका सविस्तर वर्णन उत्तराध्ययन के २६ में अध्ययनमें किया गया है।

[१८] संयमी भिक्षु मल, मूत्र, बलगम, छिनक (नाकका मल), अथवा शरीर का मैल यदि कहीं फेंकना या डालना हो तो उन्हें जीवरहित स्थानमें खूब देखभालकर डाले।

टिप्पणी-जिस स्थान पर मल आदि डाला जाता है उसे उच्चार भूमि कहते हैं। वह स्थान भी विशुद्ध तथा जीवरहित है या नहीं यह भलीभांति देख संभाल कर ही वहां मलशुद्धि करनी उचित है। गृहस्थश्रम में भी इस प्रकार की शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

[१९] भोजन अथवा पानी के लिये गृहस्थ के घरमें गया हुआ साधु यत्ना (सावधानी) पूर्वक खड़ा रहे और मर्यादापूर्वक ही बोले। वहां पर पड़े हुए भिन्न २ पदार्थों की तरफ (किंवा रूपवती स्त्रियोंकी तरफ अपना मन) न दौड़ावे।

[२०] (गृहस्थके यहां भिक्षार्थ आता हुआ) भिक्षु बहुत कुछ बुरा-भला सुनता है, आंखोंसे बहुत कुछ भलाबुरा देखता है किन्तु देखी हुई किंवा सुनी हुई बातोंको दूसरोंसे कहना उसके लिये योग्य नहीं है।

[२१] अच्छी-बुरी सुनी हुई किंवा देखी हुई घटना दूसरोंसे कहने पर यदि किसीका चित्त क्षुभित हो अथवा किसीको दुःख हो तो ऐसी बात भिक्षु कभी न बोले तथा किसी भी प्रकार से गृहस्थोचित (मुनिके लिये अयोग्य) व्यवहार कभी न करे।

[२२] कोई पूंछे अथवा न पूंछे तो भी भिक्षु कभी भी भिक्षाके संबंध में यह सरस है किंवा अमुक पदार्थ रसहीन है; यह गाम अच्छा है या बुरा है; अमुक दाताने दिया और अमुकने नहीं दिया इत्यादि प्रकारके वचन कभी न बोले।

[२३] भिक्षु भोजनमें कभी भी आसक्त न बने और गरीब तथा धन-वान दोनों प्रकार के दाताओं के यहां समभावपूर्वक भिक्षार्थ जाकर दातार के अवगुणों को न कहते हुए मौनभावसे जो कुछ भी मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहे किन्तु अपने निमित्त खरीद कर लाई हुई, तैयार की हुई किंवा ली गई तथा सचित्त भिक्षा कभी भी ग्रहण न करे।

[२४] संयमी पुरुष थोडेसे भी आहार का संग्रह न करे और यावन्मात्र जीवोंका रक्षक वह साधु निःस्वार्थ तथा अप्रतिबद्धता (अनासक्त भाव) से संयमी जीवन व्यतीत करे।

[२५] कठिन व्रतोंका पालक, अल्प इच्छावाला, संतोषी जीवन बिताने-वाला साधक जिनेश्वरों के सौम्य तथा विश्ववल्लभ शासन को प्राप्त कर कभी आसुरत्व (क्रोध) न करे।

टिप्पणी–संयम, संतोष एवं इच्छानिरोध इन तीन गुणोंका जिस किसीमें विकास हो जाता है वही जैन है। ऐसा साधक जिनशासन को प्राप्त होकर विरुद्ध प्रसंग आने पर भी क्रोध न करे। क्योंकि क्रोध करने से जैनत्व दूषित होता है और आसुरी भाव पैदा होता है। आसुरी प्रकृतिको छिन्न कर दैवी प्रकृति को प्राप्त होना यह भी धर्मश्रवण के अनेक फलोंमें से एक फल है।

[२६] समव्रती साधु सुन्दर, मनोहर, रागपूर्ण शब्दों को सुनकर उधर रागाकृष्ट न हो अथवा भयंकर एवं कठोर शब्दों को सुनकर उनकी तरफ द्वेषभाव न बतावे किन्तु दोनों परिस्थितियों में समभाव धारण करे।

टिप्पणी–रागके स्थानमें राग और द्वेषके स्थानमें द्वेष; दोनों विषय-परिस्थितियोंमें समभाव रखनेवाला ही श्रमण कहलाता है और ऐसी वृत्तिके उपासक को ही जैन साधक कहते हैं।

[२७] भिक्षु साधक भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, कुशय्या, अरुचिकारक प्रसंग, सिंह आदि पशु किंवा मनुष्य देवकृत भयप्रसंग आ जाय अथवा इस तरह के अन्य परिषह (आकस्मिक आये हुए संकट) आ पड़ें तो उन्हें समभावसे सह लें क्योंकि देहका दुःख यह तो आत्माके लिये महासुखका निमित्त है।

टिप्पणी–इन्द्रियोंके संयममें ऊपरसे देखने से दुःख मालूम होता है और उनके असंयममें सुख मालूम होता है परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो इनका परिणाम केवल दुःख का ही देनेवाला है। इन्द्रियों का ऐसा स्वभाव होने से संयम दुःखरूप मालूम पड़ता है किंतु उसका परिणाम एकांत सुखरूप ही है। संयमी पुरुष यदि गृहस्थाश्रममें भी हो तो संयमद्वारा संतोष एवं अहिंसा के गुणोंकी वृद्धि कर सुखी होता है।

[२८] संयमी सूर्यास्त होने के बाद और सूर्योदय होने के पहिले किसी भी प्रकारके आहार की मनसे भी इच्छा न करे।

टिप्पणी–रात्रिभोजन का निषेध बौद्ध तथा प्राचीन वेद धर्ममें भी है। वैद्यक तथा शरीररचना की दृष्टिसे भी रात्रिभोजन वर्ज्य है।

[२६] संयमी गुस्सासे शब्दोंकी भर्त्सना न करे तथा अचपल (चपलता रहित), परिमित आहार करनेवाला, अल्पभाषी (थोड़ा बोलनेवाला) तथा भोजन करनेमें दमितेन्द्रिय (इन्द्रियोंको दमन करनेवाला) बने। यदि कदाचित् दाता थोड़ा आहार दे तो उस थोड़े आहार को प्राप्त कर दाताकी निंदा न करे।

[३०] साधु किसी भी व्यक्तिका न तो तिरस्कार ही करे और न आत्मप्रशंसा ही करे। शास्त्रज्ञान अथवा अन्य गुण, तपश्चर्या द्वारा उच्च रिद्धिसिद्धि अथवा उत्तम ज्ञानकी प्राप्ति होने पर वह उनका अभिमान न करे।

[३१] ज्ञात अथवा अज्ञात भावसे यदि कभी कोई अधार्मिक क्रिया (धर्मिष्ठ साधक के अयोग्य आचरण) हो जाय तो साधु उसको छुपाने की चेष्टा न करे किंतु प्रायश्चित्त द्वारा अपनी आत्मासे उस पापको दूर कर निर्मल बने और भविष्यमें वैसी भूल फिर कभी न होने पावे उसके लिये सावधान रहे।

टिप्पणी–यावन्मात्र साधकोंसे भूल हो सकती है। भूल कर बैठना मनुष्य मात्रका स्वभाव है, भले ही वह मुनि हो या हो श्रावक। किंतु भूलको भूल मानलेना यही सज्जन का लक्षण है। छोटी बड़ी कैसी भी भूल क्यों न हो, उसके निवारण के लिये तत्क्षण प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। वैसी भूल फिर कभी न होने पावे यही प्रायश्चित्त की सच्ची कसौटी है। वारंवार प्रायश्चित्त लेने पर भी यदि भूल होती रहा करे तो समझ लेना चाहिये कि यातो शुद्ध प्रायश्चित्त नहीं हुआ अथवा वह प्रायश्चित ही उस भूल के योग्य नहीं है, अर्थात् भूल बड़ी है और प्रायश्चित्त छोटा है।

[३२] जितेन्द्रिय, अनासक्त तथा शुद्ध अन्तःकरणवाला साधकसे यदि भूलसे अनाचार का सेवन हो गया हो तो उसे छुपा न रक्खे

किंतु हितैषी गुरुजनों के समक्ष उसे प्रकट कर उसका प्रायश्चित्त ले और सदैव निष्पापकी कोशिश करता रहे।

[३३] और अपने आचार्य (गुरुदेव) महात्माका वचन शिरोधार्य कर उसे कार्यद्वारा पूर्ण करे।

टिप्पणी–इस श्लोकमें विनयिताका लक्षण बताया है। बहुतसे साधक महापुरुषों की आज्ञाको वचनों द्वारा स्वीकार तो लेते हैं किंतु उसे आचरणमें नहीं उतारते तो इससे यथार्थ लाभ कैसे हो सकता है? इसी लिये आज्ञाको वाणी और आचरण दोनोंमें लानेका विधान किया है।

[३४] (प्रत्यक्षसिद्ध भोगोंको क्यों छोड़ देना चाहिये इसका उत्तर) मनुष्य जीवनका आयुष्य बहुत छोटा (परिमित) है और प्राप्त जीवन क्षणभंगुर है; मात्र आत्मसंसिद्धि (विकास) का मार्ग ही नित्य है ऐसा समझकर साधकको भोगोंसे निवृत्त हो जाना चाहिये।

टिप्पणी–जब जीवन ही अनित्य है वहां लोगोंकी अनित्यता तो प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है। अनित्यतामें आनन्द नहीं मिलता इसलिये तत्त्वज्ञ साधक आसक्तिसे स्वयमेव विरत हो जाते हैं।

[३५] इसलिये सत्यके शोधक साधकको अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, आरोग्य और श्रद्धाको क्षेत्र, काल के अनुसार योग्य रीतिसे धर्ममें संलग्न करना उचित है।

टिप्पणी–सिंहनीका दूध बलिष्ठ है, अमृत बड़ी उत्तम वस्तु है किंतु यदि उनको रखनेके योग्य पात्र ही न हो तो उस दूधका क्या उपयोग है? कुपात्रमें रखनेसे वह स्वयं खराब हो जाता है इतना ही नहीं प्रत्युत उस पात्रको भी खराब करता है। इसी तरह त्याग, प्रतिज्ञा, नियम ये सभी उत्तम गुण है फिर भी यदि उनके धारक पात्रकी योग्यायोग्यताका विचार न किया जाय

तो वे उत्तम गुण और वह अयोग्य धारक दोनों निंदित होते हैं। इसलिये प्रत्येक कार्य करनेके पहिले उपरोक्त वस्तुस्थितियोंका विचार एवं विवेक बनाये रखने के लिये महापुरुष सावधान करते हैं।

[३६] (बहुत से साधक स्वयं शक्तिमान एवं साधनसंपन्न होने पर भी धर्मरुचि प्राप्त नहीं कर सकते, उनको लक्ष्य करके महापुरुष कहते हैं कि) हे भव्य! जबतक बुढापे ने तुझे आकर नहीं घेरा, जबतक तेरे शरीरमें रोग की बाधा नहीं है, जबतक तेरी समस्त इन्द्रियाँ तथा अंग जर्जरित नहीं हुए हैं तबतक तुझे धर्मका आचरण जरूर २ करते रहना चाहिये।

टिप्पणी—शरीर धर्मसाधनका परम साधन है। यदि यह स्वस्थ होगा तो ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, संयम, इत्यादि गुणोंका पालन भलीभांति हो सकता है। बाल्यावस्थामें यह साधन परिपक्व नहीं होता और वृद्धावस्थामें अतिशय निर्बल होता है इस कारण इन दोनों अवस्थाओंमें इसके द्वारा धर्मध्यान नहीं हो पाता, इसलिये ग्रंथकार चेताते हैं कि पुरुषो! जबतक तुम तरुण एवं युवान हो अर्थात् तुम्हारा शरीर धर्मसाधन के योग्य है तबतक धर्मध्यान कर लो क्योंकि बादमें यह अमूल्य अवसर फिर नहीं मिलेगा।

[३७] (धर्मक्रिया करने से क्या लाभ है!) आत्महितका इच्छुक साधक पापकी वृद्धि करनेवाले क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को एकदम छोड दें।

टिप्पणी—जैन शासन यह मानता है कि धर्मक्रियाका परिणाम साक्षात् आत्मा पर पडता है अर्थात् आत्मनिष्ठाकी परीक्षा उसके बाह्य चिह्नोंसे नहीं किन्तु उसके आन्तरिक गुणोंसे होती है। जितने अंशमें दोषोंका नाश होता है उतने ही अंशोंमें गुणोंकी वृद्धि होती है इसलिये यहां पर सर्व दोषों के मूल स्वरूप ये चार दुर्गुण (कषायें) बताई गई हैं और प्रत्येक साधकको उन्हें दूर करनेका उपदेश दिया है।

[३८] क्रोधसे प्रीतिका नाश होता है, मानसे विनयगुण नष्ट हो जाता है, माया से मित्रताका और लोभ सर्व गुणोंका नाश करता है।

टिप्पणी–जीवनमें यदि कुछ अमृतता–मिठास है तो वह प्रेम। विनय जीवनकी रसिकता है, मित्रभाव यह जीवनका एक मीठा अवलंबन है। अवलंबन, विकास और जीवन इन तीनों गुणों के नष्ट होनेपर इस जीवनमें सुन्दरता कहां रही? इन गुणोंकि बिना तो सारा चेतन ही जडवत् हो जाता है। इसलिये इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करने के लिये प्रतिक्षण सावधान रहना यही साधकका धर्म है और मनुष्य जीवनका परम कर्तव्य है।

[३९] इसलिये साधक उपशम (क्षमा) से क्रोधका नाश करे, मृदुता से अभिमान को जीते, सरल स्वभावसे मायाचारको जीते और संतोष से लोभको जीते।

टिप्पणी–सहनशीलता एक ऐसा गुण है जिससे अपना तथा दूसरे दोनोंका क्रोध दूर हो जाता है। मृदुता अभिमान को गला देती है, जहां सरल स्वभाव होता है वहां कपट (मायाचार) क्षण भर भी ठहर नहीं सकता और ज्यों २ सन्तोष बढता जाता है, त्यों २ लोभका नाश होता है इसलिये सबसे अधिक माहात्म्य सन्तोषका है। हम व्यवहारमें भी देखते हैं कि एक इच्छाके जागृत होते ही उक्त चारों दोष बिना बुलाये ही वहां दौडे चले आते हैं और सन्तोष के आते ही वे सब वहां से भाग जाते हैं। सारांश यह है कि असन्तोष ही दुर्गुणोंका मूल और पतनका प्रबल निमित्त है।

[४०] (क्रोधादि) कषायों से क्या हानि होती है? क्रोध एवं मान कषायोंको वशमें न रखनेसे तथा माया एवं लोभको बढाने से ये चारों काली कषायें पुनर्जन्मरूपी वृक्षों के मूलोंको (जडों को) हमेशा सिंचन करती रहती हैं।

टिप्पणी–"किं दुःखमूलं भव एव साधो"–दुखका मूल कारण क्या? इसका उत्तर मिला संसार। जन्म–मरणोंकी परंपरा को ही तो संसार कहते

है। सारांश यह है कि दुःखोंके कारणीभूत कषायोंको जीते बिना संसार से मुक्ति किसी तरह नहीं मिल सकती।

[४१] (भिक्षु साधक के विशिष्ट नियम) अपने से अधिक उत्तम चारित्रवान् अर्थात् चारित्रवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध गुरुजनों की विनय करे। अपने उच्च चारित्र को निश्चल रक्खे। संकट के समयमें भी वह अपने प्रणका त्याग न करे और कछुएकी तरह अपने समस्त अंगोपांगों (इंद्रियादिवर्ग) को वशमें रखकर तप एवं संयम की तरफ ही अपने पुरुषार्थ को लगाये रहे।

टिप्पणी–विनय करने से उन विशिष्ट महापुरुषों के गुणोंकी प्राप्ति होती है। उच्च चारित्रको निभाने से आत्मशक्ति तथा संकल्पबल बढते हैं।

[४२] तथा ऐसा साधक निद्राका प्रेमी न बने। हंसी–मजाक करना त्याग कर दे, किसीकी गुप्त बातोंमें रस न ले किन्तु (अपनी निवृत्ति के) समय को अभ्यास एवं चिन्तन में लगा रहे।

टिप्पणी–अधिक सोनेवाला साधक आलसी हो जाता है। निद्राका हेतु श्रम दूर करनेका ही है, आलस्य बढानेका नहीं। इसलिये यदि यह साधन के बदले शौकको बात हो जायगी तो इससे उसके संयममें हानि ही होगी। इसी तरह हंसी–मजाक की आदत से अपनी गंभीरताका नाश होता है, हृदय इतना छोटा हो जाता है कि उसमें छोटे बडे किसी गुणका विकास हो ही नहीं सकता इसलिये मुनिके लिये हास्यको बडा दोष बताया है। किसीकी गुप्त बात सुनने से निंदा, दुष्टभाव तथा पापकी तरफ अभिरुचि बढती है। इन्हीं कारणों से उक्त दोषोंको त्यागने का उपदेश दिया गया है।

[४३] (यदि कदाचित् ध्यानमें मन न लगे तब क्या करना चाहिये) आलस्यका सर्वथा त्याग करके तथा मन, वचन तथा काय इन तीनोंको एकाग्र करके इन तीनों के योगको निश्चल रूपसे (दस प्रकार के) श्रमणधर्ममें लगावे। सर्व प्रकारों से श्रमणधर्म में संलग्न योगी परम अर्थको प्राप्त होता है।

टिप्पणी–सहिष्णुता, निर्लोभता, कोमलता, निरभिमानिता, सत्य, संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग तथा तप ये १० यतिधर्म कहलाते हैं। साधुका कर्तव्य है कि जब जब इनमें से किसी भी धर्मकी कसौटी का समय आवे तब २ उसमें सतत अडोल रहे। ये दश धर्म ही सच्चे श्रमणधर्म हैं और इन्हीं धर्मों के द्वारा ही परमार्थ (मोक्ष) की सिद्धि होती है।

[४४] साधकको इस लोक तथा परलोक इन दोनों में कल्याणकारी, सद्गति देनेवाले बहुश्रुत ज्ञानी पुरुषकी उपासना करनी चाहिये और उसके सत्संग से अपनी शंकाओंका समाधान करके यथार्थ अर्थका निश्चय करना चाहिये।

टिप्पणी–इस लोकमें ज्ञानदान मिलने से अपना हित होता है और उस ज्ञानके प्रभावसे चारित्र उत्तम बनता है इसीलिये गुरुको इस लोक तथा परलोक दोनोंका हितकारी बताया है क्योंकि ऐसे ज्ञानी पुरुषके निमित्त से ही अन्तःकरण की अशुध्धि निकल कर वह विशुध्धि होती है जिसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। आत्मसाक्षात्कार ही जीवोंका परम अभीष्ट लक्ष्य है और ऐसी पवित्रतासे प्राप्त हुई दिव्यगति किंवा उत्तमगति भी उस साधकको आत्मविकास के मार्गमें अधिकअधिक अग्रसर करती है।

[४५×४६] (ज्ञानी पुरुषके समीप किस तरह बैठना चाहिये तत्संबंधी कायविनयका विधान) जितेन्द्रिय मुनि अपने हाथ, पैर, तथा शरीर को यथावस्थित (विनयपूर्वक) रखकर अपनी चपल इन्द्रियों को वशमें रक्खे और गुरुके शरीर से चिपट कर, अथवा गुरुकी जांघ से जांघ अडाकर न बैठे किन्तु विनयपूर्वक मध्यम रीति से गुरुजनों पास बैठे।

टिप्पणी–जिस आसनसे बैठने से गुरुको अथवा इतरजनोंको विघ्न होता हो अथवा अविनय होता हो उस आसन से कदापि न बैठे।

[४७] (वचन–विनय का विधान) संयमी साधक बिना पूंछे उत्तर न दे, दूसरों के बोलने के बीचमें बात काटकर न बोले, पीठ पीछे

किसीकी निंदा न करे तथा बोलनेमें मायाचार एवं असत्यको बिलकुल न आने दे।

[४८] और जिस भाषाके बोलने से दूसरे को अविश्वास पैदा हो अथवा दूसरे जन क्रुद्ध हो जांय, जिससे किसीका अहित होता हो ऐसी भाषा साधु न बोले।

[४९] किन्तु आत्मार्थी साधक, जिस वस्तुको जैसी देखी हो वैसी ही परिमित, संदेह रहित, पूर्ण, स्पष्ट, एवं अनुभवयुक्त वाणीमें बोले। यह वाणी भी वाचालता एवं परदुःखकारी भावसे रहित होनी चाहिये।

[५०] साधुत्व के आचार एवं ज्ञानका धारक तथा दृष्टिवादका पाठी ज्ञानी भी वाणीके यथार्थ उच्चारण करनेमें भूल कर सकता है। ऐसी परिस्थितिमें साधक मुनि उच्चारण संबंधी भूल करते देख-कर किसीकी हंसी मस्करी न करे।

टिप्पणी–आचारांग सूत्रमें श्रमणके आचारों का वर्णन है तथा भगवती सूत्रमें श्रामण्य भव्यज्ञानका वर्णन है। ये दोनों ग्रंथराज तथा दृष्टिवाद नामक सूत्र (यह ग्रंथ आजकल उपलब्ध नहीं है) जैन सूत्रोंमें अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। इन तीनों ग्रंथराजों के पाठी भी शब्दों के ठीक २ उच्चारण करने में भूल कर बैठते हैं तो उस समय "आप सरीखे विद्वान इतना भी नहीं जानते, आप भी भूलकर बैठे" इस प्रकारकी उनकी अपमानजनक हंसी–मस्करी मुनि न करे। क्योंकि मनुष्य मात्र से भूल हो जाना संभव है। यदि अनिवार्य आवश्यकता ही आ जाय तो नम्रता के साथ उस भूलको सुधारने के लिये प्रयत्न करे किन्तु ऐसा कोई शब्द न कहे या ऐसी चेष्टा न करे जिससे उस ज्ञानीको दुःख या अपमान होनेका बोध हो।

[५१] मुनि यदि नक्षत्र–विचार, ज्योतिष, स्वप्नविद्या, वशीकरण विद्या, शकुन शास्त्र, मंत्रविद्या अथवा वैद्यचिकित्सा आदि संबंधी आ-

कारी रखता हो तो वह उसको गृहस्थजनों से न कहे क्यों कि उसके ऐसा करने से अनेक अनर्थ होने की संभावना है।

[५२] (मुनि कैसे स्थानोंमें रहे उसका वर्णन करते हैं) गृहस्थों द्वारा अपने निमित्त बनाये गये स्थानों, शय्या, तथा आसनको मुनि उपयोगमें ला सकता है परन्तु वह स्थान स्त्री, पशु (तथा नपुंसक) से रहित होना चाहिये तथा मूत्रादि शरीर बाधाओं को दूर किया जा सके ऐसे स्थानसे युक्त होना चाहिये।

[५३] उस स्थानमें साधु एकाकी (संगीसाथी न हो) हो तब वह स्त्रियों के साथ वार्तालाप अथवा गप्पेसप्पें न मारे। वहां रहते हुए किसी गृहस्थ के साथ अति परिचय न करे किन्तु यथा-शक्य साधुजनों के साथ ही परिचय रक्खे।

टिप्पणी—एकांतमें एकाकी स्त्री के साथ वार्तालाप करने से दूसरों को शंका होनेका डर है और गृहस्थके साथ अति परिचय करने से रागबंधन की संभावना है, इसीलिये साधुको स्त्रियों अथवा पुरुषों के साथ केवल व्यवहारोपयुक्त संबंध ही रखना चाहिये।

[५४] जैसे मुर्गीके बच्चे को बिल्लीका सदैव भय लगा रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी साधक को स्त्री के शरीर से भय रहता है।

टिप्पणी—यह कथन ऊपर २ से तो एकांतवाची जैसा मालूम होता है किन्तु बारीक दृष्टिसे विचार करने से इसकी वास्तविकता अक्षरशः विदित हो जाती है। 'स्त्री शरीरका भय रक्खो' इसका आशय भी यही है कि स्त्रीपरिचय न करो। स्त्री जातिके प्रति पुरुषको अथवा पुरुष जातिके प्रति स्त्रियों को घृणा पैदा करनेका आशय यहां नहीं है। किन्तु वस्तुस्वरूपको प्रकट करने तथा ब्रह्मचर्य के साधक या साधिका को किस हद तक जागृत रहना चाहिये वही ग्रंथकार यहां बताना चाहते हैं।

[५५] शृंगारपूर्ण चित्रोंसे सज्जित दीवालको (उन चित्रों पर एक टक दृष्टि लगाकर) न देखे किंवा तत्संबंधी चिन्तन न करे। साधु

सुसज्जित स्त्री को उसके हावभावपूर्ण विलासमें देखने या मनसे सोचने की कोशिश न करे। यदि कदाचित् अकस्मात दृष्टि उधर पड जाय तो सूर्यकी तरफ पडी हुई निगाह की तरह उसको तत्क्षण ही उधर से हटाले।

टिप्पणी–सूर्यकी तरफ एक क्षणके लिये भी दृष्टि नहीं जमती। हम उधर देखना भी चाहें तो भी नहीं देख सकते। इसी तरह ब्रह्मचारी की दृष्टिका यह स्वभाव हो जाना चाहिये कि वह इरादापूर्वक कामिनियों के लावण्य, रूप, हावभावपूर्ण चेष्टाओंको देखनेका प्रयत्न न करे। यदि कदाचित् अनिच्छापूर्वक वे दिखाई दे जांय तो उनके द्वारा विकारी भावना तो जागृत नहीं होनी चाहिये। साध्वी स्त्री को भी पुरुषों के प्रति यही भाव रखना चाहिये।

[२६] ब्रह्मचारी साधकको, जिसके हाथ या पैर कट गये हों, नाक या कान कट गये हों अथवा विकृत हो गये हों अथवा जो सौ वर्षकी जर्जरित बेडोल बुढिया हो गई हो आदि किसी भी प्रकारकी स्त्री क्यों न हो उसको सर्वथा त्याग देना ही उचित है।

टिप्पणी–ब्रह्मचर्य पालनेवाले पुरुषको स्त्री के साथ अथवा स्त्रीको पुरुष के साथ २ रहनेका तो सर्वथा त्याग कर ही देना चाहिये। एकांतनिवास भी वासना का एक बडा भारी उत्तेजक निमित्त है। विकार रूपी राक्षस वय, वर्ण, या सौन्दर्य का विचार करनेके लिये रुक नहीं सकता क्योंकि वह अविवेकी, कुटिल एवं सर्वभक्षी होता है।

[२७] आत्मस्वरूप के शोधकके लिये शोभा (शरीर सौंदर्य), स्त्रियोंका संसर्ग तथा रसपूर्ण स्वादिष्टभोजन ये सभी वस्तुएं तालपुट विषके समान परम अहितकारी हैं।

टिप्पणी–रसनेन्द्रियका जननेन्द्रियके साथ अति गाढ संबंध होनेसे अत्यधिक चरचरे, तीखे, अथवा अति रसपूर्ण मिष्टान्न भोजन विकार–भाव पैदा करते

है। शरीर सौंदर्य तथा उसकी टापटीप उसमें और भी उत्तेजना पैदा कर देती है। यदि इसमें कहीं स्त्रीका संसर्ग और वह भी कहीं एकांत में मिल जाय तो फिर क्या कहना है ? इस प्रवाहमें महासमर्थ मनस्वी भी बह जाते हैं। जिस तरह विषपान करके भी अमर बने रहने के दृष्टांत क्वचित् ही दिखाई देते हैं उसी तरह इन तीनों विषय परिस्थितियों को निरन्तर सेवन करनेवाला पतित न हो यह आकाशकुसुम जैसी कठिन बात है।

[५८] स्त्रियोके अंगप्रत्यंग, आकार, मीठे शब्द (आलाप) तथा सौम्य निरीक्षण (कटाक्ष) ये सब कामराग (मनोविकार) को बढाने के ही निमित्त हैं, इसलिये सुज्ञ साधक उनका चिन्तन न करे।

टिप्पणी—विषयभावना अथवा विकारदृष्टिसे स्त्रियों के अंगोपांग देखना यह भी महा भयंकर दोष ।

[५९] यावन्मात्र पुद्गलोंके परिणामको अनित्यस्वभावी जानकर सुज्ञ साधक मनोज्ञ विषयों (भिन्न २ प्रकारकी मनोज्ञ वस्तुओं) में आसक्ति न रक्खे तथा अमनोज्ञ पदार्थों पर द्वेष न करे।

[६०] सुज्ञ मुनि पौद्गलिक (जड) पदार्थों के परिणमनको यथार्थरूप से जानकर तृष्णा (लालच) से रहित होकर तथा अपनी आत्मा को शांत रखकर संयमधर्ममें विचरे।

टिप्पणी—पदार्थमात्रका परिवर्तन होना स्वभाव है। जो वस्तु आज सुंदर दिखाई देती है वही कल असुन्दर और असुन्दर सुन्दर दिखाई देने लगती है। पदार्थमात्र के इन दोनों पक्षोंको देखकर उसके तिरस्कार या प्रलोभनमें न पडकर साधुको समभावपूर्वक ही रहना चाहिये।

[६१] पूर्ण श्रद्धा तथा वैराग्यभावसे अपने घरको छोडकर उत्तम त्याग को प्राप्त करनेवाला भिक्षु उसी श्रद्धा तथा दृढ वैराग्यसे महापुरुषों द्वारा बताये गये उत्तम गुणोंमें रक्त रहकर संयमधर्मका पालन करे।

टिप्पणी—उत्तम गुणोंमें मूलगुणों तथा उत्तर गुणों दोनोंका समावेश होता है। इनका विस्तृत वर्णन छट्ठे अध्यायमें किया है।

[६२] ऐसा साधु संयम, योग, तप, तथा स्वाध्याययोगका सतत अविष्ठान करता रहता है और वैसे ज्ञान, संयम तथा तपश्चर्या के प्रभावसे शस्त्रोंसे सज्जित सेनापतिकी तरह अपना तथा दूसरे का उद्धार करनेमें समर्थ होता है।

टिप्पणी—जो साधु अपने दोषोंको दूर कर आत्महित साधन नहीं कर सका वह कभी भी लोकहित साधनेका दावा नहीं कर सकता क्योंकि जो स्वयं शुद्ध होगा वही तो दूसरोंको शुद्ध कर सकेगा और वहीं समर्थ पुरुष वस्तुत: जगतका हित भी कर सकता है।

यहां पर सद्विद्या, संयम तथा तपको शस्त्रोंसे, साधकको शूरवीरसे, दोषों को शत्रुसे तथा सद्‌गुणों को अपनी सेनासे उपमा दी है। ऐसा शूरवीर पुरुष शत्रुओंको संहार कर अपना तथा सद्‌गुणोंका रक्षण कर सकता है।

[६३] स्वाध्याय तथा सुध्यानमें रक्त, स्व तथा पर जीवोंका रक्षक, तपश्चर्यामें लीन तथा निष्पापी साधकके पूर्वकालीन पापकर्म भी, अग्निद्वारा चांदीके मैलकी तरह भस्म हो जाते हैं।

[६४] पूर्वकथित (क्षमा–दयादि) गुणोंका धारक, संकटोंको समभावपूर्वक सहन करनेवाला, श्रुत विद्याको धारण करनेवाला, जितेन्द्रिय, ममत्वभावसे रहित तथा अपरिग्रही साधु कर्मरूपी आवरणों से दूर होने पर निरभ्र नीलाकाशमें चन्द्रमा की तरह अपनी आत्म-ज्योतिसे जगमगा उठता है (अर्थात् कर्ममलसे रहित होकर आत्मस्वरूपमय हो जाता है।

टिप्पणी—सतत उपयोगपूर्वक जागृत दशा, गृहस्थजीवन के योग्य कार्यों का सर्वथा त्याग, आसक्ति, मद, माया, छलकपट, लोभ, तथा कदाग्रहोंका त्याग ही त्याग है और इसी त्यागमय जीवनसे जीना यही त्यागी जीवनका परम

चेतनवंत लक्ष्यबिन्दु है। इस साधना के मार्गमें विद्याका दुरुपयोग तथा बलका संसर्ग कांटेके समान अहितकर हैं। उनको निर्मूल कर सत्संग तथा सदाचार का सेवन कर शुद्ध साधक सद्वर्तनके लिये सदैव उद्यमवंत रहे।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'आचारप्रणिधि' नामक आठवां अध्ययन समाप्त हुआ।

विनयसमधि

९

प्रथम उद्देश

—(०)—

विशिष्टनीति या विशिष्ट कर्तव्यका ही दूसरा नाम विनय है।

साधक जीवन के दो प्रकार के कर्तव्योंमें सामान्य की अपेक्षा विशिष्ट कर्तव्य की तरफ अधिक लक्ष्य देना चाहिये, क्योंकि सामान्य कर्तव्य गौण हुआ करता है और विशिष्ट कर्तव्य ही मुख्य होता है। मुख्य धर्मोंके पोषण के लिये ही सामान्य धर्मोंकी योजना की जाती है। मुख्य धर्मकी हानि कर सामान्य धर्मकी रक्षा करना निष्प्राण देह की रक्षा करनेके समान व्यर्थ है।

गृहस्थके विशिष्ट कर्तव्य, साधकके विशिष्ट कर्तव्य तथा भिक्षु-श्रमण के विशिष्ट कर्तव्य ये तीनों ही भिन्न २ होते हैं

इस अध्ययनमें प्रत्येक श्रेणीके जिज्ञासुओं के जीवनस्पर्शी विषयोंका वर्णन किया गया है। परन्तु उनमें भी गुरुकुल के श्रमण साधकों के अपने गुरुदेव के प्रति क्या क्या कर्तव्य हैं इस बात पर विशेष भार दिया गया है।

शास्त्रकारोंने साधकके लिये उपकारक गुरुको परमात्मा के समान बहुत ऊंची उपमा दी हैं। गुरुदेव, साधकके जीवन विकासके रास्ते के जानकार सहचारी हैं और वे उसकी नावके पतवार के समान हैं।

इसलिये उनकी शिक्षाको अस्वीकार करना अथवा उसकी अवगणना करना मानों आपत्ति तथा पतनको आमंत्रण देनेके समान विचारशून्य अयोग्य कार्य है।

गुरुदेव बोले :–

[१] जो साधक अभिमानसे, क्रोधसे, मायाचारसे, अथवा प्रमाद से गुरुदेव (साधु समुदाय के आचार्य) के पास विनय (विशिष्ट कर्तव्य) नहीं करता है वह अहंकार के कारण सचमुच अपने पतनको ही बुलाता है और जिस तरह वांसका फल वांसको ही नाश करता है उसी तरह उसको प्राप्त शक्ति उसी के नाशकी तरफ खींच ले जाती है।

[२] और जो कोई साधक अपने गुरुको मंद अथवा थोडी उमरका जानकर अथवा उनको थोडा ज्ञान है ऐसा मानकर उनकी अवगणना करता है, अथवा उनको कटुवचन कहता है वह सचमुच कुमार्गमें जाकर अन्तमें अपने गुरुको भी बदनाम करता हैं।

[३] बहुत से गुरु (वयोवृद्ध होने पर भी) प्रकृति से ही बुद्धिमें मंद होते हैं। बहुत से वयमें छोटे होने पर भी अभ्यास एवं बुद्धिमें बहुत आगे बढे हुए होते हैं। भले ही ये ज्ञानमें आगे-पीछे हों किन्तु वे सब साधुजनों के आचारसे भरपूर तथा चारित्रके गुणोंमें ही तल्लीन रहनेवाले तपस्वी पुरुष हैं। इस लिये उनका अपमान करना ठीक नहीं क्योंकि उनका अपमान अग्निकी तरह अपने सद्‌गुणोंको भस्म कर देता है।

टिप्पणी–क्षमा, दया, इत्यादि सद्गुणोंके धारक गुरु स्वयं किसीका भी अकल्याण करनेकी इच्छा नहीं करते किन्तु ऐसे महापुरुषोंका अपमान करनेसे स्वभावतः उसी अपमान करनेवालेका ही नुकसान होता है क्योंकि चारित्र

साधन करने के लिये आवश्यक अंकुश दूर हो जानेसे उसके पतनकी ही अधिक संभावना रहती है।

[४] यदि कोई मूर्ख मनुष्य सांपको छोटा जानकर उससे छेड़छाड़ करे तो उसका उस सर्पद्वारा अहित ही होगा। इसी तरह जो कोई अज्ञानी अपने आचार्यका अपमान करता है वह अपने अज्ञानसे अपनी जन्ममरणकी परंपराको बढाता है।

[५] क्रुद्ध हुआ दृष्टिविष सर्प प्राणनाशसे अधिक और क्या नुकसान कर सकेगा! (अर्थात् मृत्युसे अधिक और कुछ नहीं कर सकता) किन्तु जो मूर्ख अपने आचार्यों को अप्रसन्न करता है वह साधक गुरुकी आसातना करनेसे अज्ञानता को प्राप्त होकर मुक्तिमार्ग से बहुत दूर हो जाता है।

टिप्पणी—यह पूर्णोपमाका श्लोक नहीं है इसलिये सांपकी पूर्ण उपमा आचार्यों पर घटित नहीं होती। यह तो एक दृष्टांत है और दृष्टांत दार्ष्टान्त के केवल एक अंशको ही लागू होता है। सारांश यह है कि सांप अपने वैरीसे बदला लेने की भरसक कोशिश करता है किन्तु आचार्यका तो वैरी ही कोई नहीं होता; यदि कोई वैरी होगया तो भी वे बदला लेनेकी कल्पना तक भी नहीं करेंगे। किन्तु ऐसा अविवेकी साधक स्वयं अपने ही दोषसे दुःखी होता है, उसमें गुरुका कोई दोष नहीं है। गुरुके अपमान को दृष्टिविष सर्पसे उपमा दी है। दृष्टिविष सर्प उसे कहते हैं कि जिसे देखते ही (काटनेकी तो बात ही क्या है!) विष चढजाय और मृत्यु हो जाय। गुरुका अपमान साधकके लिये इस विषसे भी अधिक भयंकर है क्योंकि वह विष तो एक ही बार मृत्यु लाता है किंतु गुरुकी अप्रसन्नता तो जन्म-मरण के चक्रोंमें ही घुमाया करती है क्योंकि ऐसा आदमी मोक्षमार्गसे बहुत दूर हो जाता है।

[६] जो कोई साधक गुरुका अपमान करके आत्मविकास साधनेकी इच्छा करता है वह मानो जीनेकी आशासे अग्निमें प्रवेश करता

है; दृष्टिविष सर्पको क्रुद्ध करता है अथवा अमर होनेकी आशासे विष खाता है!

टिप्पणी—जिस तरह जीनेकी इच्छावाला व्यक्ति उक्त तीनों प्रकारके कार्योंसे दूर रहता है उसी तरह आत्मविकासका इच्छुक साधक गुरुके अपमान से दूर रहे।

[७] कदाचित् (विद्या या मंत्रबल से) अग्नि भी न जलावे, क्रुद्ध दृष्टि-विष सर्प न भी काटे, हलाहल विष भी घात न करे किन्तु गुरुका तिरस्कार कभी भी व्यर्थ नहीं जाता है (अर्थात् सद्गुरुका तिरस्कार करनेवाला साधक संयमसे भ्रष्ट हुए विना नहीं रहता।)

टिप्पणी-गुरुजनोंका तिरस्कार मोक्षका प्रतिबंधक शत्रु है, इसमें लेश मात्र भी अपवादको स्थान नहीं है। इसलिये आत्मार्थी साधकको उपकारी गुरुओं के प्रति सदैव विनीत रहना चाहिये।

[८] यदि कोई मूर्ख अपने माथेसे पर्वतको चुर २ करनेकी इच्छा करे (तो पर्वतके बदले अपना ही सिर चुर २ कर लेगा) सुप्त सिंहको उसके पास जाके जगावे, भालेकी नोंक पर लात मारे (भालेका तो कुछ न बिगडेगा, किन्तु पैर के टुकडे २ हो जायंगे) तो जिस प्रकार दुःखी होता है उसी प्रकार गुरुजनों के तिरस्कार करनेवालोंकी दुःखद स्थिति होती है।

[९] मानों कि (वासुदेव सरिखा पुरुष) अपनी अपरिमित शक्तिसे किसी मस्तक द्वारा पर्वतको चूर २ कर दे, क्रुद्ध सिंह भी कदाचित् भक्षण न करें और भालेकी नोंक भी कदाचित् पैरको न भेदे तो भी गुरुदेवका किया हुआ तिरस्कार अथवा अवगणना साधकके मोक्षमार्गमें बाधा उत्पन्न किये बिना नहीं रहती।

[१०] आचार्यदेवों की अप्रसन्नतासे अज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसको मोक्षमार्गमें अन्तराय होता है इसलिये अबाधित सुखके इच्छुक साधकको गुरुकृपा संपादन करने में ही लीन रहना चाहिये।

टिप्पणी—रागद्वेषका संपूर्ण क्षय होने पर ही संपूर्ण ज्ञान (केवलि ज्ञान) पैदा होता है। ऐसी उच्च स्थिति पाने पर भी गुरुकी विनय करनेका विधान कर शास्त्रकारोंने विनयका अपार माहात्म्यको बताया है और विनय ही को आत्मविकास की १ लीका पहिला डंडा बताया है।

[११] जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण भिन्न २ प्रकार के घी, मधु, इत्यादि पदार्थों की आहुतियों तथा वेदमंत्रों द्वारा अभिषिक्त होमाग्निको नमस्कार करता है उसी तरह अनंत ज्ञानी और धर्मीष्ठ शिष्य भी अपने गुरुकी विनयपूर्वक भक्ति करे।

[१२] शिष्यका कर्तव्य है कि जिस गुरुसे वह धर्मशास्त्रके गूढ रहस्य सीखा हो उस गुरुकी विनय सदैव करता रहे। उसको दोनों हाथ जोडकर प्रणाम करे। वचनसे उनका सत्कार करे और कायसे उनकी सेवा करे। इसी प्रकार मन, वचन और कायसे गुरुकी विनय करता रहे।

[१३] अधर्म के प्रति लज्जा (अरुचिभाव), दया, संयम और ब्रह्मचर्य ये ४ गुण आत्महितैषी के लिये आत्मविशुद्धिके ही स्थान हैं (क्योंकि इससे कर्म रूपी मैल दूर होता है) इसलिये "मेरे उपकारी गुरु सतत जो शिक्षा देते हैं. वह मेरा हित करनेवाली है इसलिये ऐसे गुरुकी हमेशा सेवा करते रहना मेरा कर्तव्य है" ऐसी भावना उत्तम प्रकारके साधकको हमेशा रहनी चाहिये।

[१४] जिस प्रकार रात्रीके व्यतीत होने पर प्रकाशमान सूर्य संपूर्ण भारतक्षेत्रमें प्रकाश करता है इसी प्रकार आचार्यदेव अपने ज्ञान, चारित्र तथा बुद्धियुक्त उपदेश द्वारा जीवादि पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं और वे देवों में इन्द्र के समान साधुओं में शोभित होते हैं।

[१५] जिस प्रकार ज्योत्स्ना (चंदनी) से युक्त शरदपूर्णिमाका चंद्र भी ग्रह, नक्षत्र, तथा तारागणों के परिवारसे युक्त, बादलोंसे रहित नीलाकाशमें अत्यंत मनोहरतासे प्रकाशित होता है इसी तरह गणको धारण करने वाले आचार्य भी सत्यधर्मरूपी निर्मल आकाशमें अपने साधुगणके परिवार सहित शोभित होते हैं।

टिप्पणी–यहां 'गण' शब्दका प्रयोग साधु गणमें महत्ता बतानेके लिये केवल आचार्य के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[१६] सद्धर्मका इच्छुक और उनके द्वारा अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) सुखकी प्राप्तिका इच्छुक भिक्षु, ज्ञान, दर्शन तथा शुद्ध चारित्र के महाभंडारस्वरूप शांति, शील तथा बुद्धिसे युक्त समाधिवंत आचार्य महर्षियोंको अपनी विनय एवं भक्तिसे प्रसन्न कर लेता है और उनकी कृपा प्राप्त करता है।

[१७] बुद्धिमान साधक उपर्युक्त सुभाषितोंको सुनकर अप्रमत्त होकर अपने आचार्यदेवकी सेवा करता है और उनके द्वारा सज्ज्ञान, सच्चारित्र इत्यादि अनेक गुणोंकी आराधना कर उत्तम सिद्धगतिको प्राप्त होता है।

टिप्पणी–ब्रह्मचर्य, संयम, गुरुभक्ति, विवेक, मैत्री तथा समभाव ये छ सद्गुण प्रत्येक मोक्षार्थी श्रमणके सहचर हैं क्योंकि उन्नतिकी सीढी के ये ही डंडे हैं इस बातको मुक्तिका अभिलाषी साधक कभी न भूले।

ऐसा मैं कहता हूँ

(इस प्रकार सुधर्मस्वामीने जम्बूस्वामीको कहा था) इस प्रकार 'विनय समाधि' नामक अध्ययनका प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ।

दूसरा उद्देशक

जिस तरह वृक्षमें सर्व प्रथम जड, उसके बाद तना, फिर शाखा प्रतिशाखा, पुष्प, फल तथा रस इस प्रकार क्रमशः वृद्धि होती है उसी तरह अध्यात्म विकासक्रमकी भी क्रमानुसार ऐसी ही श्रेणियां हैं।

यदि कोई मूल रहित वृक्ष अथवा नींव सिवायका घर बनाना चाहे तो वह निश्चयसे वैसा वृक्ष उगा नहीं सकता (फलकी तो बात ही क्या है?) अथवा वैसा घर वह बांध नहीं सकता। इसी प्रकार जो कोई साधक विनय रूपी मूलका यथार्थ सेवन किये बिना धर्मवृक्ष बोता है वह साधक मुक्ति रूपी सफलता कभी नहीं प्राप्त कर सकता।

गुरुदेव बोले :—

[१] जिस प्रकार मूलसे वृक्षका तना, तनेमें से शाखा, शाखामेंसे प्रतिशाखाएं, शाखा–प्रतिशाखाओं में से पत्ते उत्पन्न होते हैं और बादमें उस वृक्षमें फूल, फल और मीठा रस क्रमशः पैदा होते हैं।

[२] उसी प्रकार धर्मरूपी वृक्षका मूल विनय है और उसका अंतिम परिणाम (अर्थात् रस) मोक्ष है। उस विनयरूपी मूलद्वारा विनयवान शिष्य इस लोकमें कीर्ति और ज्ञानको प्राप्त होता है और महापुरुषों द्वारा परम प्रशंसा प्राप्त करता है और क्रमशः अपना आत्मविकास करते हुए अन्तमें निःश्रेयस (परम कल्याण) रूपी मोक्ष को भी प्राप्त होता है।

टिप्पणी–जिस वृक्षका फल मोक्ष हो वह वृक्ष कितना महत्त्वशाली होगा, यह बात आसानीसे समजमें आ जाती है। और इसीलिये उस धर्मका वर्णन इस ग्रंथके पहिले अध्ययनमें संक्षेपसे किया है। यहां धर्मको वृक्षको उपमा देने का हेतु यह है कि धर्मकी भूमिकाओं का भी वृक्ष जैसा क्रम होता है। क्रम सिवाय अथवा क्रमके विपरीत यदि किसी वस्तुका व्यवहार किया जाय तो उससे लाभ होने के बदले हानि ही होती है क्योंकि वस्तुका एक के बाद दूसरी पर्याय होना उसका स्वभाव है इस लिये तदनुकूल ही व्यवहार होना चाहिये इस सूक्ष्म बातका निर्देश करने के लिये ही यह दृष्टांत दिया है।

वस्तुतः जितना माहात्म्य सद्धर्मका है उतना ही माहात्म्य विनयका है। यहां पर विनयका अर्थ–विशिष्ट नीति अर्थात् सज्जनका कर्तव्य है। दया, प्रेम विवेक, संयम, परोपकार, परसेवा आदि सब गुण सज्जनके कर्तव्य ही हैं। इन कर्तव्यों को करनेवाला ही विनीत हो सकता है। विनय से ही महापुरुषोंकी कृपा प्राप्त होती है और विश्वमें सुयशकी सुगंध प्रसरती है; इसीसे सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है और तो क्या, आत्मदर्शन होकर साक्षात् मोक्षकी भी प्राप्ति इसीसे होती है।

यह विनय ही सद्धर्मरूपी कल्पवृक्षका मूल है, धैर्य उसका कंद है, ज्ञान तना है, शुभभाव–जिससे उसे पोषण मिलता है, उसकी त्वचा है, पूर्ण अनुकंपा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं त्याग ये उसकी शाखाएं हैं, उत्तम भावना उसकी प्रतिशाखाएं हैं; धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान उसके पल्लव हैं; निर्विषयिता, निर्लोभिता तथा क्षमादि गुण उसके पत्ते हैं; वासनादि पापोंके क्षय तथा देहाध्यासके त्यागको उसका पुष्प, मोक्ष फल और मुक्त दशामें प्राप्त निराबाध सुखको उसका मधुर रस समझना चाहिये।

[२] जो आत्मा क्रोधी, अज्ञानी (मूर्ख), अहंकारी, सदैव कटुभाषी, मायावी, धूर्त होता है उसे अविनीत समझना चाहिये और वह पानीके प्रबल प्रवाहमें काठकी तरह सदैव इस संसार-प्रवाह में तैरता रहता है।

टिप्पणी—क्रोध, मूर्खता, अभिमान, कुवचन, माया, तथा शठता आदि सब सज्जनता के शत्रु हैं। ये दुर्गुण सच्चे विनयभावको उत्पन्न ही नहीं होने देते और इसलिये वैसा जीवात्मा लोक तथा परलोक में प्रवाहमें पड़े हुए काष्ठकी तरह पराधीन बनकर दुःख, खेद, क्लेश, शोक, वैर, विरोधमें ही पड़ा व सड़ता रहता है। उसे कभी भी शांतिका श्वास लेनेका अवकाश ही नहीं मिलता।

[४] कोई उपकारी महापुरुष जब सुन्दर शिक्षा देकर उसको विनय-मार्ग पर लानेकी प्रेरणा करते हैं तब मूर्ख मनुष्य उनपर उल्टा क्रोध कर उस शिक्षाका तिरस्कार करता है। उसका यह कार्य वस्तुतः स्वयं आती हुई स्वर्गीय लक्ष्मीको लकड़ीसे रोकने जैसा है।

[५] उदाहरणके लिये, वे हाथी और घोड़े जो (अपनी अधमीनताके कारण) प्रधान सेनापतिकी आज्ञाके आधीन नहीं हुए वे (फौज में भर्ती न होकर) केवल बोझा ढोनेके काममें लगाये जाकर दुःख भोगते हुए दिखाई देते हैं।

[६] और उसी सेनापतिकी आज्ञा के आधीन रहनेवाले हाथी और घोड़े महा यश एवं समृद्धिको प्राप्त होकर अत्यंत दुर्लभ सुखोंको भोगते हुए देखे जाते हैं।

टिप्पणी—फौजमें वही हाथी, घोड़े लिये जाते हैं जो फौजी कायदोंको जानते हैं और सेनापतिकी आज्ञानुसार युद्ध संबंधी सभी क्रियाएं करते हैं। ऐसे घोड़ों तथा हाथियोंका अत्यधिक लालनपालन किया जाता है और उन्हें उत्तमसे उत्तम खुराक तथा आराम दिया जाता है। दशहरा आदि त्यौहारोंके अवसर पर उन्हें सुवर्ण तथा चांदीके गहनोंसे सजाया जाता है तथा उनपर रेशमी झूलें डाली जाती हैं। उनकी सेवामें अनेक चाकर लगे रहते हैं। किन्तु जो हाथी घोड़े अपनी उद्दंडताके कारण फौजी नियमों को नहीं सीख पाते

उनको दिनरात बोझा ढोते २ कष्ट भोगते हुए हम सब देखते हैं, फिर भी उनका कुछ भी कदर नहीं होता। उन पर तो काम करते हुए भी डंडा ही पड़ते हैं! अविनीत तथा विनीत होनेके फलका यह दृष्टांत बहुत उत्तम है। इसी तरह विनीत आत्मा तथा अविनीत आत्माके विषयमें भी समझना चाहिये।

[७×८] ऊपर के दृष्टांत के अनुसार, इस संसारमें भी जो नरनारी अविनयसे रहते हैं उनपर खूब ही मार पड़नेसे उनमें से बहुतों की तो इन्द्रियां भंग हो जाती हैं अथवा सदाके लिये घायल (विकलांग) हो जाते हैं।

[९] परन्तु जो नरनारी विनय की आराधना करते हैं वे इस लोकमें महा यशस्वी होकर महा संपत्तिको प्राप्त करते हैं और तरह २ के सुख भोगते हुए दिखाई देते हैं।

[१०] (देवयोनिमें भी अविनयी जीवोंकी क्या गति होती है उसे बताते हैं) अविनीत जीव देव, यक्ष, भवनवासी देव होने पर भी अविनयता के कारण ऊंची पदवी न पाकर उन्हें केवल बड़े देवोंकी नौकरी ही करनी पड़ती है और इससे वे दुःखी देखे जाते हैं।

[११] किन्तु जो जीव सुविनीत होते हैं वे देव, यक्ष, भुवनवासी देव होकर उनमें भी महा यशस्वी तथा महा संपत्तिवान देव होते हैं और अलौकिक सुख भोगते हैं।

टिप्पणी—सुख और दुःखका अनुभव आत्मविशुद्धि पर निर्भर है और आत्मविशुद्धिका आधार सद्धर्मकी आराधना पर है। बाह्य संपत्तिकी प्राप्ति भले ही पूर्व शुभ कर्मके उदयसे हो किन्तु उससे मिलनेवाला सुख वा दुःख तो आत्मशुद्धि अथवा आत्माकी मलिनता पर ही निर्भर है इस लिये आत्मशुद्धि करना यह जीवनका मुख्य ध्येय है। ऐसा महापुरुषोंने कहा है। बहुतसे धनी मनुष्य भी संसारमें घोर कष्ट और अपमान भोगते हुए देखे जाते हैं और कोई

२ निर्धन होने पर भी सुखी एवं सम्मानित दिखाई देते हैं। इसमें उनकी आत्मशुद्धिकी हीनाधिकता ही कारण है।

[१२] जो साधक अपने गुरु तथा विद्यागुरुकी सेवा करते हैं और उनकी आज्ञानुसार आचरण करते हैं उनका ज्ञान, प्रतिदिन पानी से सींचे हुए पौदेकी तरह, हमेशा बढ़ता जाता है।

टिप्पणी—सत्पुरुषोंकी प्रत्येक क्रियामें सद्बोधका भंडार भरा रहता है। उनके आसपासका वातावरण ही इतना पवित्र होता है कि जिज्ञासु एवं सत्य-शोधक साधक जीवनकी अगम्य गुत्थियोंको सहज ही में सुलझा लेता है।

[१३×१४] (गुरुकी विनयकी क्या आवश्यकता है?) गृहस्थ लोग अपनी आजीविका के लिये अथवा दूसरों (रिश्तेदारों आदि) के भरणपोषणके लिये केवल लौकिक सुखोपभोगके लिये कलाके आचार्यों से उस कलाको सीखते हैं और फिर उनके पास अनेक राजपुत्र, श्रीमंतों के पुत्र आदि बहुतसे लड़के उस विद्याको सीखने के लिये आकर वध, बंधन, मार, तथा अन्य दारुण कष्ट सहते हैं।

[१५×१६] ऐसी केवल बाह्य जीवनके भरणपोषणकी शिक्षाके लिये भी उक्त राजकुमार तथा श्रीमंतों के पुत्र उपर्युक्त प्रकार के कष्ट सहन करते हैं तथा उन कलाचार्यकी सेवा करते हैं, और प्रसन्नतापूर्वक उसके आज्ञाधीन रहते हैं तो फिर जो मोक्षका परम पिपासु मुमुक्षु साधक है वह सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये क्या क्या न करेगा? इसीलिये महापुरुषोंने कहा है कि उपकारी गुरु जो कुछ भी हितकारी वचन कहें उसका भिक्षु कभी भी उल्लंघन न करे।

टिप्पणी—जैन दर्शनमें गुरुआज्ञाका बहुत ही अधिक माहात्म्य बताया है यहां तक कि गुरुआज्ञा पालनमें ही सब धर्म बता दिया है। साथ ही साथ

इस बात पर भी बड़ा ही जोर दिया है कि गुरु भी आदर्श गुरु होना चाहिये निःस्वार्थता, शुद्ध चारित्र और परमार्थबुद्धि ये गुरुके विशिष्ट गुण हैं।

[१७] (गुरुकी अधिक विनय कैसे की जाय) साधक भिक्षु अपनी शय्या, आसन, एवं स्थान गुरुकी अपेक्षा नीचा रक्खे। चलते समय भी वह गुरुसे आगे आगे न चले और नीचे झुककर गुरुदेवके पदकमलों को वंदन करे तथा हाथ जोड़कर नमस्कार करे।

[१८] यदि कदाचित् अपना शरीर अथवा वस्त्र आदि गुरुजीके शरीरसे छू जांय तो उसी समय साधु 'मुझसे यह अपराध हुआ, कृपया क्षमा कीजिये, अब ऐसी भूल न होगी, इस प्रकार बोले और बादमें ऐसा ही आचरण करे।

[१९] जिस तरह गरियार बैल चाबुक पड़ने पर ही रथको खींचता है उसी तरह जो दुष्टबुद्धि अविनीत शिष्य होता है वह गुरुके बारंबार कहने पर ही उनकी आज्ञाका पालन करता है।

[२०×२१] किंतु धीर साधुको तो, गुरु चाहे एक बार कहें या अनेक बार, परन्तु उसी समय अपनी शय्या या आसन पर बैठे २ प्रत्युत्तर न देना चाहिये और उसी समय खड़े होकर अत्यन्त नम्रताके साथ उसका उत्तर देना चाहिये और वह बुद्धिमान शिष्य अपनी तर्कणाशक्तिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावसे गुरुजीके अभिप्राय तथा सेवाके उपचारोंको जान कर उन २ उपायों को तत्काल ही समयानुसार करनेमें लग जाय।

टिप्पणी—इस गाथामें विवेक तथा व्यवस्था करने का विधान करके प्रकारान्तरसे विनयमें अंधश्रद्धा एवं अविवेक को बिलकुल स्थान नहीं है इस बातका निर्देश किया है।

[२२] अविनीत के सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं और विनीत को सद्गुणोंकी प्राप्ति होती है ये दो बातें जिस मनुष्यने जान लीं वही सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेका अधिकारी है।

[२३] जो साधक संयमी बनकर भी बहु क्रोधी, अपने स्वार्थ एवं सुखका आतुर, चुगलखोर, तावेदार, अधर्मी, अविनयी, मूर्ख, पेटू, केवल नाम मात्रका साधु होता है वह मोक्षका कभी भी अधिकारी नहीं हो सकता।

[२४] किन्तु जो गुरुजनों के आज्ञाधीन, धर्म तथा ज्ञानके असली रहस्य के जानकार और विनयपालन में पंडित होते हैं वे इस दुस्तर संसारसागरको सरलतासे पारकर-समस्त कर्मोंका क्षय करके अन्तमें मोक्ष गतिको प्राप्त होते हैं, प्राप्त होंगे और प्राप्त हुए हैं।

टिप्पणी-क्रोध, स्वच्छंद, माया, शठता, और मदांधता ये पांच दुर्गुण विनयके कट्टर शत्रु हैं। इनको त्याग कर तथा उपर्युक्त सद्गुणोंकी आराधना कर साधक भवसागरके प्रवाहमें न बहते हुए अपनी ली हुई प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहे।

ऐसा मैं कहता हूं:-

इस प्रकार 'विनय समाधि' नामक अध्ययनका दूसरा उद्देशक समाप्त हुआ।

तीसरा उद्देशक

जो पूज्यता सद्गुणों के बिना ही प्राप्त हो जाती है उससे अपना और दूसरों दोनोंका ही अनिष्ट होता है; उससे उन दोनोंका विकास रुक जाता है और अन्तमें दोनोंको पश्चात्ताप करना पड़ता है।

ऐसी पूज्यताका प्रभाव वहीं तक रहता है जहां तक कि प्रभा-

जड़, मूर्ख, तथा अदूरदर्शी बनी रहती है किन्तु प्रजामें ज्ञान, गुण-ग्राहकता तथा विवेकबुद्धि आते ही उस पूज्यताका रंग उड़ जाता है और वह पामरता के रूपमें पलट जाती है। इस लिये महर्षियोंने ऐसी क्षणिक पूज्यता को प्राप्त करनेका लेशमात्र भी निर्देश नहीं किया।

इस उद्देशकमें जिन गुणों से पूज्यता प्राप्त होती है उनका वर्णन किया है।

गुरुदेव बोले :—

[१] जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्निकी सुश्रूषा करने में निरन्तर सावधान रहता है उसी प्रकार शिष्यको अपने गुरुकी सेवा करने में सावधान रहना चाहिये क्योंकि आचार्यकी दृष्टि और इशारों से ही उनके मनोभावको जानकर जो शिष्य उनकी इच्छाओंकी पूर्ति करता है वही पूजनीय होता है।

[२] जो शिष्य सदाचार की आराधनाके लिये विनय करता है, उनकी सेवा करते हुए गुरु आज्ञा सुनते ही उसका पालन करता है और गुरुकी किंचिन्मात्र भी अवगणना नहीं करता, वही साधक पूजनीय होता है।

[३] जो साधक अपनेसे उमरमें छोटे किन्तु ज्ञान अथवा संयममें वृद्ध की विनय करता है, गुणीजनोंके सामने नम्रभावसे रहता है तथा सदैव सत्यवादी, विनयी एवं गुरुका आज्ञापालक होता है वही पूजनीय होता है।

[४] जो भिक्षु संयमयात्राके निर्वाह के लिये हमेशा सामुदानिक, विशुद्ध, तथा अज्ञात घरोंमें गोचरी करता है और आहार न मिलने पर खेद तथा मिलने पर बड़ाई नहीं करता है वही पूजनीय होता है।

[५] संथारा, शय्यास्थान, आसन तथा आहारपानी सुन्दर अथवा बहुत अधिक प्रमाणमें मिलने पर भी जो थोड़ेकी ही इच्छा रखता है

और उसमें भी केवल आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करके सन्तुष्ट रहता है और यदि कदाचित् कुछ न मिले तो भी जो पूर्ण सन्तुष्ट ही बना रहता है वही पूजनीय होता है।

[६] किसी उदार गृहस्थसे धन आदिकी प्राप्तिकी आशासे लोहेकी कीलोंपर चलना अथवा सो जाना सरल है किन्तु कानोंमें बाणों की तरह लगनेवाले कठोर वचन रूपी कांटोंको बिना किसी स्वार्थ के सहन करना अतिशय अशक्य है। फिरभी उनको जो कोई सह लेता है वही वस्तुतः पूजनीय है।

[७] (कठोर वाणी लोहेके बाणोंसे भी अधिक दुःखद होती है) लोहे के कांटे तो मुहूर्त (दो घडी) भर ही दुःख देते हैं और उन्हें आसानीसे शरीरमें से निकाल कर फेंका भी जा सकता है किन्तु कठोर वचनों के प्रहार हृदयके इतने आरपार हो जाते हैं कि उनको निकाल लेना आसान काम नहीं है और वे इतने गाढ वैर बांधनेवाले होते हैं कि उनसे अनेक अत्याचार और दुष्कर्म हो जाते हैं जिनका भयंकर परिणाम अनेक जन्मों तक नीची गतिमें उत्पन्न हो २ कर भोगना पडता है।

टिप्पणी—अनुभवी पुरुषोंका यह कैसा अनुभवामृत है। एक कठोर वचन के परिणाममें करोडों आदमियोंका संहार होता है। एक कठोर वचनका ही यह परिणाम है कि इस पृथ्वीपर खूनकी नदियां बहने लगती हैं और धर्मकर्म सब ताकमें रख दिये जाते हैं! एक कठोर वचनका ही यह परिणाम है कि पवित्रता, वैभव, और उन्नतिके शिखर पर पहुंची हुई व्यक्तियोंका पतन हो जाता है। महाभारत आदि ग्रंथ इसी बातके तो साक्षी हैं! आज भी कठोर वचन के दुष्परिणाम किसीसे छिपे नहीं हैं इसीलिये वचनशुद्धि पर इतना अधिक जोर डाला गया है।

[८] कठोर वचनके प्रहार कानमें पडते ही चित्तमें एक ऐसा विचित्र प्रकारका विकार (जिसे वैमनस्य कहते हैं) उत्पन्न कर देते हैं परन्तु

उन कठोर वचनोंको भी मोक्षमार्गका जो शूरवीर तथा जितेन्द्रिय पथिक सहिष्णुताकी कसौटी मानकर प्रेमपूर्वक सहन कर लेता है वही वस्तुतः पूजनीय है।

टिप्पणी–क्षमा वीर पुरुषका भूषण है। जिसमें शक्ति होती है वही सहन कर सकता है। कायर कदाचित् कठोर वचनको कायसे सहन कर लेगा किन्तु उसका मन तो कुढ़ता ही रहेगा। आज भी अपने शिर पर नंगी तलवारका वार सहनेवाले और मैदाने जंगमें बढ़ २ कर हाथ बतानेवाले हजारों लाखों ही शूरवीर मिल जांयगे, उपाय किये बिना ही आपत्तियों को सहजाने वाले साधक भी सैंकड़ों मिल जांयगे किन्तु बिना कारण कठोर शब्दोंकी वर्षाको तो कोई विरला वीर ही सह सकता है!

[९] जो साधु किसी भी मनुष्य की पीठ पीछे निंदा नहीं करता, सामने वैर विरोधको बढ़ानेवाली भाषा नहीं बोलता और जो निश्चयात्मक तथा अप्रिय भाषा नहीं बोलता वही वस्तुतः पूजनीय है।

टिप्पणी–निंदाके समान एक भी विष नहीं है। जिस मनुष्यकी निंदा की जाती है वह कदाचित् दूषित भी हो तो उसके दोषोंको प्रकट करनेसे वे घटने के बदले उल्टे बढ़ते ही जाते हैं और निंदक स्वयं वैसा ही दुष्ट बनने लगता है इस तरह सुननेवाला, सुनानेवाला और खुद निंदित ये तीनों ही विषाक्त वातावरण पैदा करते हैं। इसीलिये इस दुर्गुणको शास्त्रोंमें त्याज्य कहा है।

[१०] जो साधक अलोलुपी, अकौतुकी (जादूगरी आदिसे रहित) मंत्र, तंत्र, इन्द्रजाल आदि नहीं करनेवाला, निष्कपट, निरलस, दैन्यभावसे रहित, जो स्वयमेव अपनी प्रशंसा नहीं करता और न दूसरोंसे अपनी खुशामदकी इच्छा ही करता है वही वस्तुतः पूज्य है।

[११] "हे आत्मन्! साधुत्व एवं असाधुत्वकी सच्ची कसौटी गुण एवं अवगुण हैं (अर्थात् गुणोंसे साधुत्व तथा अवगुणोंसे असाधुत्व

होता है) इसलिये तू साधुगुणोंको ग्रहण कर और असाधुगुणों (अवगुणों) को छोड दे। इस तरह अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्माको समझकर जो राग द्वेष के निमित्तोंमें समभाव धारण कर सकता है वही वस्तुतः पूजनीय है।

टिप्पणी—सद्गुणों की साधनामें ही साधुता है अन्यचिह्नोंमें नहीं ऐसी विचारणा जिस साधुमें निरन्तर हुआ करती है वही साधुत्वकी आराधना कर अपने दोषोंको दूर कर सकता है।

[१२] अपनेसे बड़ा हो या छोटा हो स्त्री हो या पुरुष, साधक हो या गृहस्थ, जो किसीकी भी निंदा या तिरस्कार नहीं करता तथा अहंकार एवं क्रोधको छोड़ देता है वही सचमुच पूजनीय है।

[१३] गृहस्थ जिस तरह अपनी कन्या के लिये योग्य वर देखकर उसे विवाह देता है उसी तरह शिष्यों द्वारा पूजित गुरुदेव भी यत्नपूर्वक ज्ञानादि सद्गुणोंकी प्राप्ति करा कर साधकको उच्च श्रेणीमें रख देते हैं। ऐसे उपकारी एवं सम्मान्य महापुरुषोंकी जो जितेन्द्रिय, सत्यप्रेमी, तपस्वी साधक पूजा करता है वही वस्तुतः पूजनीय है।

[१४] सद्गुणोंके सागरके समान उन उपकारी गुरुओंके सुभाषितोंको सुनकर जो बुद्धिमान मुनि पांच महाव्रत और तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर चारों कषायोंको क्रमशः छोड़ता जाता है वही वस्तुतः पूजनीय है।

टिप्पणी—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका संपूर्ण पालन करना ये पांच महाव्रत हैं।

[१५] इस प्रकार यहां सतत गुरुजनकी सेवा करके जैन दर्शनका रहस्य जाननेमें निपुण एवं आज्ञानुसार विनीत भिक्षु अपने पूर्व संचित कर्मोंदलको दूर कर अनुपम [illegible] मोक्षगतिको प्राप्त होता है।

टिप्पणी—लाभ या हानिमें, निंदा या स्तुतिमें समता, संतोष, जितेन्द्रियता इत्यादि साधुगुणोंका स्वीकार तथा दीनवृत्ति, निंदा तथा तिरस्कार जैसे दुर्गुणोंका त्याग ये सब बातें पूज्यता पैदा करनेवाली हैं।

श्रमण पूज्यताको कभी नहीं चाहता फिर भी गुणकी सुवास पूज्यताको स्वयं खींचती है। ऐसा साधक श्रमण शीघ्र ही अपने साध्यको सिद्ध करके निर्वाणके अपरिमित आनंदको भोगता है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'विनय समाधि' नामक अध्ययनका तीसरा उद्देशक समाप्त हुआ।

चौथा उद्देशक

अध्यात्म शांतिके अनुभवको समाधि कहते हैं। अध्यात्म शांतिके पिपासु साधक जिस समाधिकी सिद्धि चाहते हैं उसके ४ साधनों का वर्णन इस उद्देशकमें किया है। उन साधनोंका जो साधक सावधानीसे उपयोग करता है और उसमें लगनेवाले दोषोंको भलीभांति जानकर उन्हें दूर करनेकी कोशिश करता है वे ही साधक अध्यात्म शांतिके मार्गमें आगे बढते हैं और जो कोई इनका दुरुपयोग करता है वह स्वयं गिर पड़ता है और साथ ही साथ प्राप्त साधनोंको भी गुमा बैठता है।

गुरुदेव बोले:—

सुधर्मस्वामीने अपने शिष्य जंबूस्वामी को उद्देश करके इस प्रकार कहा था हे आयुष्मन्! भगवान महावीरने इस प्रकार कहा था

वह मैंने सुना है। उन स्थविर (प्रौढ़ अनुभवी) भगवानने विनय समाधिके ४ स्थान बताये हैं।

शिष्यः—भगवन्! उन स्थविर भगवानने किन चार स्थानोंका वर्णन किया है?

गुरुः—उन स्थविर भगवानने विनय समाधिके इन ४ स्थानोंका वर्णन किया है: (१) विनय समाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तप-समाधि और (४) आचार समाधि।

[१] जो जितेन्द्रिय संयमी हमेशा अपनी आत्माको विनय समाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार समाधिमें लगाये रहता है वही सच्चा पंडित है।

उस विनय समाधिके भी ये चार भेद हैं: (१) जिस गुरुसे विद्या सीखी हो उस गुरु को परम उपकारी जानकर उनकी सदा सेवा करना; (२) उनके निकट रहकर उनकी परिचर्या अथवा (विनय) करना; (३) गुरुकी आज्ञाका अक्षरशः पालन करना; और (४) विनयी होने पर भी अहंकारी न बनना इन सबमें से अंतिम चौथा भेद बहुत ही मुख्य है। उसके लिये अगले सूत्रमें कहते हैं:—

[२] मोक्षार्थी साधक हितशिक्षाकी सदैव इच्छा करे; उपकारी गुरुकी सेवा करे, गुरुके समीप रहकर उनकी आज्ञाओंका यथार्थ रीतिसे पालन करे, और विनयी होनेका अभिमान न करे वही साधक विनय समाधिका सच्चा आराधक है।

गुरुदेव बोले:—

आयुष्मन्! श्रुत समाधिके भी चार भेद हैं जिनको मैंने इस प्रकार सुना है: (१) 'अभ्यास करने से ही मुझे सूत्रसिद्धांत का पक्का

ज्ञान होगा'–ऐसा मानकर अभ्यास करे। (२) 'अभ्यास करनेसे मेरे चित्त की एकाग्रता बढे'–ऐसा विश्वास रखकर अभ्यास करे। (३) 'मैं अपनी आत्माको अपने धर्ममें पूर्ण रूपसे स्थिर करूंगा'–ऐसा निश्चय करके अभ्यास करे, तथा (४) 'यदि मैं धर्ममें बराबर स्थिर होऊंगा तो दूसरों को भी धर्ममें स्थापित कर सकूँगा'–ऐसी मान्यता रखकर अभ्यास करे। इस प्रकार ४ पद हुए। इनमें से अंतिम चौथा पद विशेष उल्लेख्य है। तत्संबंधी श्लोक आगे कहते हैं:—

[३] श्रुतसमाधिमें रक्त हुआ साधक सूत्रों को पढकर ज्ञानकी, एकाग्र चित्त की, धर्मस्थिरताकी तथा दूसरों को धर्म में स्थिर करनेकी शक्ति प्राप्त करता है इसलिये साधक को श्रुतसमाधिमें संलग्न होना चाहिये।

[४] तप समाधिमें हमेशां लगा हुआ साधक भिन्न भिन्न प्रकारके सद्गुण के भंडार रूपी तपश्चर्या में सदैव लगा रहे और किसी भी प्रकारकी आशा रक्खे विना वह केवल कर्मों की निर्जरा करने की ही इच्छा करे। ऐसा ही साधु पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है।

टिप्पणी–सर्व दिशाव्यापी यश को 'कीर्ति, अमुक एक दिशा व्यापी यश को 'वर्ण' केवल एक ग्राम में व्याप्त यश को 'शब्द' और केवल कुल में ही फैले हुए मर्यादित यशको 'श्लोक' कहते हैं।

आचार समाधि भी चार प्रकार की होती है। वे भेद इस प्रकार हैं:–(१) कोई भी साधक ऐहिक स्वार्थ के लिये साधु आचारोंका सेवन न करे, (२) पारलौकिक स्वार्थके लिये भी साधु-आचारों को न सेवे। (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द या श्लोक के लिये साधु-आचारों को न पाले। (४) निर्जरा के सिवाय अन्य किसी हेतु से साधु-

आचारों को न पाले । इनमें से अंतिम चौथा पद महत्वका है और उसे लक्ष्यमें रखना चाहिये । तत्संबंधी श्लोक इस प्रकार है:—

[५] जो साधु, दमितेन्द्रिय होकर आचार से आत्मसमाधि का अनुभव करता है, जिनेश्वर भगवान के वचनों में तल्लीन होकर वाद्-विवादोंसे विरक्त होता है और संपूर्ण क्षायक भावको प्राप्त होता है, वह आत्ममुक्ति के निकट पहुंच जाता है—

[६] वह साधु चार प्रकार की आत्मसमाधि की आराधना कर विशुद्ध बन जाता है तथा चित्त की-सुसमाधि को साधकर अंतमें परम हितकारी तथा एकांत सुखकारी अपने कल्याणस्थान (मोक्ष) को भी स्वयमेव प्राप्त करलेता है ।

[७] इससे वह जन्म-मरणके चक्र से तथा सांसारिक बंधनोंसे सर्वथा मुक्त होकर शाश्वत (अविनाशी) सिद्ध पदवी को प्राप्त होता है अथवा यदि थोडे कर्म बाकी बच गये हों तो महान ऋद्धिशाली उत्तम कोटि का देव होता है ।

टिप्पणी—जिस तपमें भौतिक वासना की गंध नहीं, जिस तपमें कीर्ति अथवा प्रशंसा की इच्छा नहीं, मात्र कर्ममल से रहित होने की ही भावना है वही तप आदर्श है और जिस आचारमें आत्मदमन, मौन तथा समाधिका समावेश है वही सच्चा तप है । जिस विनयमें नम्रता, सरलता, एवं सेवाभाव है वही सच्ची विनय है और जिस ज्ञानसे एकाग्रता तथा समभाव की वृद्धि होती है वही सच्चा ज्ञान है ।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'विनयसमाधि' नामक नौवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

भिक्षु नाम

—(०)—

आदर्श साधु

१०

वैराग्यके उद्रेक से जब हृदय सुगंधित हो जाता है तभी उसमें त्याग के लिये प्रेमभाव पैदा होता है, तभी उसे त्यागकी लौ लगती है और वह मुमुक्षु किसी गुरुदेव को ढूंढकर त्यागमार्ग की विशाल वाटिकामें विहार करने लगता है और तभी वह आसक्ति तथा स्वच्छंदता के त्याग का निश्चय करके, प्रतिज्ञा पूर्वक अति कठिन नीति-नियमों का स्वीकार करता है।

यावज्जीवन के लिये ऐसी तीव्र प्रतिज्ञा लेनेवाले त्यागी की आध्यात्मिक, धार्मिक, तथा सामाजिक दृष्टि बिन्दुओं से क्या २ और कितनी जवाबदारी है उसका इस अध्ययन में वर्णन किया है।

गुरुदेव बोले :–

[१] (बुद्धिमान पुरुषों के उपदेशसे अथवा अन्य किसी निमित्तसे) गृहस्थाश्रम को छोड़कर त्यागी बना हुआ जो भिक्षु सदैव ज्ञानी महापुरुषों के वचनों में लीन रहता है, उनकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, नित्य चित्तसमाधि लगाता है, स्त्रियों के मोहजाल में नहीं फँसता और वमन किये हुए भोगोंको फिर भोगनेकी इच्छा नहीं करता वही आदर्श भिक्षु है।

[२] जो पृथ्वी को स्वयं नहीं खोदता, दूसरों से नहीं खुदवाता और खोदनेवाले की अनुमोदना भी नहीं करता; जो स्वयं सचित्त पाणी नहीं पीता, न दूसरों को पिलाता है और पीनेवालों की अनुमोदना भी नहीं करता; जो तीक्ष्ण शस्त्र रूपी अग्निको स्वयं नहीं जलाता, न दूसरों से जलवाता है और जलानेवाले की अनुमोदनाभी नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है।

टिप्पणी—यहां किसी को यह शंका हो सकती है कि ऐसा क्यों कहा है? उसका समाधान यह है कि जैन दर्शनमें आध्यात्मिक विकासकी दो श्रेणियां बताई हैं (१) गृहस्थ संयम मार्ग, और (२) साधु संयम मार्ग। गृहस्थ संयमी को गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी संयमकापालन करना होता है किन्तु उसके अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और त्याग प्रमाणमें मर्यादित होते हैं और वे 'अणुव्रत' कहलाते हैं। किन्तु त्यागी को तो उक्त पांचों व्रतों को पूर्ण रीति से पालना पडता है इसलिये उसके व्रतों को 'महाव्रत' कहते हैं।

उपरकी गाथा में त्यागी के त्याग का प्रकार बताया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति ये सब सजीव हैं यद्यपि उनके जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे हमारी चर्मचक्षुओं द्वारा दिखाई नहीं देते। किंतु वे हैं अवश्य। उनकी संपूर्ण अहिंसा गृहस्थ जीवन में साध्य (संभव) नहीं है इसीलिये गृहस्थ संयममार्ग में स्थूल मर्यादा का विधान किया गया है। त्यागी जीवन में ऐसी अहिंसा सहज साध्य है इसलिये उसके लिये ऐसी सूक्ष्म हिंसा को भी त्याज्य बताया है।

[३] जो पंखा आदि साधनों से स्वयं हवा नहीं करता और दूसरों से नहीं कराता; वनस्पति को स्वयं नहीं तोडता और न दूसरों से तुडवाता ही है मार्गमें सचित्त बीज पडे हों तो जो

उनको बचाकर चलता है और अचित्त भिक्षा को ही ग्रहण करता है ऐसा साधु ही आदर्श साधु है।

[४] जो अपने निमित्त बनाई हुई भिक्षा को नहीं लेता, जो स्वयं भोजन नहीं बनाता और न दूसरों से बनवाता ही है वही आदर्श भिक्षु है क्योंकि भोजन पकाने से पृथ्वी, घास, काष्ठ, और उसके आश्रयमें रहनेवाले इतर प्राणियों की हिंसा होती है इसलिये भिक्षु ऐसी हिंसाजनक प्रवृत्ति नहीं करता है।

टिप्पणी–यहां किसी को यह शंका हो सकती है कि साधु जीवनमें भोजन की जरूरत तो होती ही है तो यदि मुनि न पकायेगा तो कोई दूसरा अवश्य ही उसके लिये पकायेगा और उस दशामें उस आदमी का उपयोगी समय बर्बाद होगा इतना नहीं उसे व्यर्थ ही कष्ट तथा मुनिके भोजन का खर्च सहना पड़ेगा और साधु महाराज के निमित्त से वह उतने अधिक आरंभ का पापभागी भी होगा। अपने स्वार्थ के लिये किसी दूसरे को इतनी उपाधिमें डालना इसमें विश्वोपकारक भगवान महावीर की अहिंसा का पालन कहां हुआ?

इसका समाधान यह है कि साधु जीवन निःस्वार्थी, निःस्पृही तथा स्वतंत्र जीवन होता है। निःस्वार्थता, निःस्पृहता और स्वतंत्रता ये सब इतने उत्तम गुण हैं कि वे स्वयं अपने पैरोंपर खड़े हो सकते हैं इतनाही नहीं किन्तु वे दूसरों का बोझ भी वहन कर सकते हैं। जो वस्तु हलकी होती है वह स्वयं पानी के ऊपर रहती है, यही नहीं उसपर बैठनेवाले कोभी पानी में डूबने नहीं देती। ठीक इसी तरह जहां साधु जीवन होता है वहां शांति रहती है। जगत के यावन्मात्र प्राणी शान्ति के इच्छुक होने के कारण स्वयं उसकी तरफ आकृष्ट होते हैं। त्याग के प्रति इस आकर्षण को ही दूसरे शब्दों में 'भक्ति तत्त्व' कहते हैं। यह भक्तितत्त्व मानव हृदयमें रही हुई अर्पणता को बाहर खींच लाता है।

जगत के पदार्थों का जो जीव जितना उपभोग करता है उससे अधिक अधिक प्राप्त करने की सतत स्वार्थवृत्ति (तृष्णा) उसके हृदय के अंतस्तल में छिपी रहती है। यह मनुष्य मात्रका स्वभाव है कि वह अपनी संपत्ति अथवा वैभव पर सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव उससे अधिक के लिये प्रयत्न करते रहना चाहता है। कहा भी गया है कि "तृष्णा का अंत नहीं है"। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकता से बहुत अधिक पदार्थों को अपने अधिकार में लिये बैठा है और जो कुछ उसके पास है उससे भी कई गुना अधिक वह अपने पास रखना चाहता है; किन्तु जब उसमें अर्पणता भाव प्रकट होता है तब सर्व प्रथम उसकी तृष्णा बढनी बंध हो जाती है और वह दान किंवा परोपकार के रूपमें प्रकट होती है। इसी तरह की वृत्तियों के प्रभावसे इस जगत में साधनहीन तथा अशक्त जीवों का निर्वाह होता रहता है। इतना विवेचन करने का तात्पर्य इतना ही है कि गृहस्थ साधु को जो दान करता है वह अपनी उपकार भावना से ही करता है।

परन्तु इस दानवृत्ति अथवा परोपकार वृत्तिका यदि आदर्श भिक्षु लाभ लें तो दूसरे अशक्त जीवों को मिलनेवाले भागमें कमी पडे विना न रहे। इसलिये वह तो वही भिक्षा लेता है जो गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं को बचाकर बाकी के बचे हुए भाग साधुको देता हो, और इसीलिये साधु की ऐसी भिक्षा को 'मधुकरी' की उपमा दी है और ऐसी भिक्षा ही साधु तथा ग्रहस्थ दोनों के लिये उपकारी भी है।

इस प्रकार इस निमित्तसे गृहस्थोंमें भी संयमवृत्तिका आविर्भाव होता रहता है।

जैनदर्शन में दान अथवा परोपकार की अपेक्षा संयम को उच्चकोटिका स्थान दिया है क्योंकि दाता अपने उपभोग की यथेष्ट सामग्री लेकर उससे बची हुई संपत्तिमें से ही दान करता है। परोपकार मे अंतस्तल में भी प्रत्यु-पकार की भावना छिपी हुई है जब कि संयम में तो स्वार्थ का नाम तक भी

नहीं है और तो क्या संयमी प्राप्त साधनों को भी स्वयं तृणवत् छोड देता है। इसी के कारण वह अपने संयम द्वारा विश्वके अनेक प्राणियोंका आशीर्वाद गुप्त रीति से प्राप्त करता रहता है। इस परसे आसानीसे यह बात समझमें आजायगी कि त्यागीजीवन गृहस्थ जीवन पर बोझा नहीं है परन्तु गृहस्थजीवन को मानसिक बोझेमें से बाहर निकालकर हलका बनाने का एक निमित्त है और ऐसा जीवन ही आदर्श त्यागीजीवन है।

परन्तु जब त्यागी जीवन गृहस्थजीवन पर बोझा हो जाता है तब वह उपरोक्त दोनों प्रकारों के जीवनों से निकृष्ट अर्थात् भिखारी-जीवन हो जाता है।

[५] जो साधु ज्ञातपुत्र भगवान महावीर के उत्तम वचनों की तरफ रुचि रखते हुए सूक्ष्म तथा स्थूल इन दोनों प्रकारों के षड् जीवनिकायों (प्रत्येक प्राणिसमूह) को अपनी आत्माके समान मानता है; पांच महाव्रतों का धारक होता है और पांच प्रकार के पापद्वारों (मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद तथा अशुभ योग-व्यापार) से रहित होता है वही आदर्श साधु है।

टिप्पणी–जिसतरह सुख, शांति, और आनंद हमें प्रिय हैं उसी तरह जगतके छोटे से छोटे जीव से लगाकर बडे से बडे जीवको भी ये प्रिय हैं ऐसा जानकर अपने आचरण को दूसरों के लिये सुखकर बनाना इसी वृत्तिको आत्मवत्-वृत्ति कहते हैं।

[६] जो ज्ञानी साधु; क्रोध, मान, माया और लोभ का सदैव वमन करता रहता है, ज्ञानी पुरुषों के वचनोंमें अपने चित्त को स्थिर लगाये रहता है, और सोना, चांदी, इत्यादि धनको छोड देता है वही आदर्श साधु है।

[७] जो मूढता को छोडकर अपनी दृष्टि को शुद्ध (सम्यग्दृष्टि) रखता है; मन, वचन और काय का संयम रखता है; ज्ञान,

तप, और संयममें रह कर तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों के क्षयका प्रयत्न करता है वही आदर्श भिक्षु है।

[८] तथा भिक्षु २ प्रकारके आहार, पानी, खाद्य, तथा स्वाद्य आदि सुन्दर पदार्थों की भिक्षा को कल या परसों के लिये संचय कर नहीं रखता और न दूसरों से रखाता ही है वही आदर्श भिक्षु है।

[९] तथा जो भिक्षु २ प्रकार के भोजन, पान, खाद्य तथा स्वाद्य आहार को प्राप्त कर अपने स्वधर्मी साथीदार साधुओं को बुलाकर उनके साथ भोजन करता है और भोजन के बाद स्वाध्यायमें संलग्न रहता है वही आदर्श भिक्षु है।

टिप्पणी—अपने साथीदारों के बिना अकेले ही भिक्षा आरोगने से अतिजिह्वता तथा अतिलोलुपता आदि दोष आते हैं। साधुजीवनमें के प्रत्येक कार्य से निःस्वार्थता टपकनी चाहिये। सहभोजन भी उसके प्रदर्शन का एक कार्य है। खाली बैठा हुआ साधु कुतर्कों एवं अशुभ योग में न फँसे इसलिये उसको स्वाध्याय करनेका उपदेश दिया है।

[१०] जो साधु कलहकारिणी, द्वेषकारिणी तथा पीडाकारिणी कथा नहीं कहता, निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को निश्चल रखता है, मन को शांत रखता है, संयममें सर्वदा लवलीन रहता है तथा उपशम भावको प्राप्त कर किसी का तिरस्कार नहीं करता वही आदर्श भिक्षु है।

[११] जो कानों को कांटे के समान दुःख देनेवाले आक्रोश वचनों, प्रहारों, और अयोग्य उपालंभों (उलाहनों) को शांतिपूर्वक सह लेता है, भयंकर एवं प्रचंड गर्जना के स्थानों में भी जो निर्भय रहता है और जो सुख तथा दुःखको समभाव पूर्वक भोग लेता है, वही आदर्श भिक्षु है।

[१२] जो स्मशान जैसे स्थानों में विधियुक्त प्रतिमा (एक प्रकार की उच्च कोटि की तपश्चर्या की क्रिया) अंगीकार कर भयकारी शब्दों को सुनकर भी जो नहीं डरता तथा विविध सद्गुणों एवं तपश्चर्यामें संलग्न होकर देहभान को भी भूल जाता है वही आदर्श भिक्षु है।

टिप्पणी–भिक्षुओं की प्रतिमाओं के १२ प्रकार हैं। उनमें तपश्चर्या की भिन्न २ क्रियाएं व्रत नियमपूर्वक करनी पड़ती हैं। इनका सविस्तर वर्णन जानने के लिये उत्तराध्ययन सूत्रका ३१ वां अध्यायन तथा दशाश्रुत स्कंध देखो।

[१३] तथा ऐसे स्थानमें जो मुनि देहमूर्च्छा से मुक्त रहकर अनेक बार कठोर वचनों, प्रहारों अथवा दंड किंवा शस्त्र से मारे जाने अथवा बींधे जाने पर भी पृथ्वीके समान अडग स्थिर बना रहता है, कौतूहल से जो सदा अलिप्त रहता है और वासनाओंसे रहित रहता है वही आदर्श साधु है।

[१४] जो मुनि अपने शरीर द्वारा तमाम परिषहों (आकस्मिक संकटों) को समभावपूर्वक सहनकर जन्म-मरणों को ही महा भयके स्थान जानकर संयम तथा तप द्वारा जन्म-मरणरूपी संसार से अपनी आत्मा को उबार लेता है वही आदर्श भिक्षु है।

[१५] जो मुनि सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी, तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्गमें विवेकपूर्वक लगाता है), अध्यात्मरसमें ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधिमें लगाता है वही सच्चा साधु है।

टिप्पणी—ज्ञानका फल संयम और त्याग है इसलिये सच्चे ज्ञानी का प्रथम चिह्न संयम है। संयमी स्वार्थी प्रवृत्तियों से दूर हो जाता है और आत्मभाव में ही लवलीन रहता है।

[१६] जो मुनि संयम के उपकरणों में तथा भोजन आदिमें अनासक्त रहता है, अज्ञात घरों से परिमित भिक्षा प्राप्तकर संयमी जीवन का निर्वाह करता है, चारित्रमें बाधक दोषों से दूर रहता है तथा लेन-देन, खरीद-बेचना तथा संचय आदि असंयमी व्यापारों से विरक्त रहता है और जो सर्व प्रकारकी आसक्तियों को छोड़ देता है वही आदर्श भिक्षु है।

टिप्पणी—यद्यपि पदार्थों का त्याग करना भी बड़ी कठिन बात है फिर भी उसके त्याग कर देने मात्रसे ही त्यागधर्म की समाप्ति नहीं हो जाती। पदार्थ त्याग के साथ ही साथ उनको भोगने की अतृप्त हार्दिक वासनाओं का भी त्याग करना इसीको सच्चा त्याग कहते हैं।

[१७] जो मुनि लोलुपता से रहित होकर किसी भी प्रकारके रसोंमें आसक्त नहीं होता, भिक्षाचरीमें जो परिमित भोजन ही लेता है, भोगी जीवन बिताने की वासना से सर्वथा रहित होकर अपना सत्कार, पूजन किंवा भौतिक सुख की पर्वाह नहीं करता, और जो निरभिमानी तथा स्थिर आत्मावाला होता है वही आदर्श मुनि है।

[१८] जो किसी भी दूसरे मनुष्य को (दुराचारी होनेपर भी) दुराचारी नहीं कहता, दूसरों को क्रुद्ध करनेवाले वचन नहीं बोलता, सब जीव अपने २ शुभाशुभ कर्मों के अनुसार सुख दुःख भोगेंगे ऐसा मानकर अपने ही दोषों को दूर करता है और जो अपने आपका (अपने पदस्थ किंवा तप का) अभिमान नहीं करता वही आदर्श श्रमण है।

[१९] जो जाति, रूप, लाभ अथवा ज्ञानका अभिमान नहीं करता, सर्व प्रकार के अहंकारों को छोड़ कर सद्धर्म के ध्यानमें ही संलग्न रहता है वही आदर्श भिक्षु है।

[२०] जो महामुनि सच्चे धर्मका ही मार्ग बताता है, जो स्वयं सद्धर्म पर स्थिर रहकर दूसरों को भी सद्धर्म पर स्थिर करता है, त्याग मार्ग ग्रहण कर दुराचारों के चिह्नों को त्याग देता है (अर्थात् कुसाधु का संग नहीं करता) तथा किसी के साथ ठट्ठा, मस्करी, दृष्टि आदि नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है।

[२१] (ऐसा भिक्षु क्या प्राप्त करता है?) ऐसा आदर्श भिक्षु सदैव कल्याणमार्ग में अपनी आत्मा को स्थिर रखकर नश्वर एवं अपवित्र देहावास को छोड़कर तथा जन्ममरणके बंधनों को सर्वथा काटकर अपुनरागति (वह गति, जहांसे फिर लौटना न पड़े अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होता है।

टिप्पणी—अपनी अंतरात्मा को वंचना करनेवाले एक भी कार्य न कर, गृहस्थ तथा भिक्षु को जिससे घृणा हो ऐसे समस्त कार्यों का त्याग कर भिक्षु साधक केवल समाधिमार्गमें ही विचरण करे और अंतरात्मा की मौज में ही मस्त रहे।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'भिक्षु नाम' नामक दसवाँ अध्ययन समाप्त हुआ।

रतिवाक्य चूलिका

—(०)—

(संयम से उदासीन साधक के मनमें संयम के प्रति प्रेम उत्पन्न करनेवाले उपदेश)

११

यद्यपि भिक्षु जीवन गृहस्थजीवन की अपेक्षा संयम एवं त्यागकी दृष्टिसे सौ गुना ऊंचा एवं सात्त्विक है फिर भी वह साधक ही तो है।

साधक दशा की भूमिका चाहे कितनी भी ऊंची क्यों न हो फिर भी जबतक वह साधक आत्म साक्षात्कार की स्थिति को नहीं पहुँचता और जबतक उसके हृदयके अन्तस्तल में अन्तर्गुप्त वासनाओं के गहरे पडे हुए बीज जलकर खाक न हों जाँय तबतक उसको भी नियमों की वाड को सुरक्षित रखना और उनका पालन करना आवश्यक है। लाखों करोडों साधकों के पूज्य एवं मार्गदर्शक होनेपर भी उसको धार्मिक नियमों की सत्ता के सामने नतमस्तक होना ही पड़ता है क्योंकि चिरंतन अभ्यास का लेप इतना तो चिरस्थायी एवं मजबूत होता है कि जिन वस्तुओं का वर्षों पहिले त्याग किया होता है, जिनका स्वप्नमें भी ध्यान नहीं होता वे भी एक छोटा सा निमित्त मिलते ही मनको दुष्ट प्रवृत्तिकी तरफ खींच ले जाती हैं और कई बार उस पुराने अभ्यास की जीत भी हो जाती है। ऐसी वृत्तियोंका वेग शिथिल मनवाले साधक पर तुरन्त अपना प्रभाव डालता है।

जब २ मन ऐसी चंचलता एवं पामर स्थिति में पहुँच जाय तब २ उसके दुष्ट वेगों को रोककर मनको पुनः संयममार्गमें किस तरह लगाया जाय उसके सचोट किन्तु संक्षिप्त उपायों का इस चूलिका में वर्णन किया गया ह ।

गुरुदेव बोले:-

ओ मुमु साधको! दीक्षित (दीक्षा लेनेके बाद) यदि कदाचित् मनमें पश्चात्ताप हो, दुःख उत्पन्न हो और संयममार्ग में चित्तका प्रेम न रहे और संयम छोड़कर (गृहस्थाश्रममें) चले जाने की इच्छा होती हो किन्तु संयम का वस्तुतः त्याग न किया हो तो उस समय घोड़े की लगाम, हाथीके अंकुश, और नाव के पतवार के समान निम्नलिखित अट्ठारह स्थानों (वाक्यों) पर भिक्षुको पुनः २ विचार करना चाहिये । वे स्थान इस प्रकार हैं:—

[१] (अपनी आत्माको संबोधन करके यों कहे) हे आत्मन्! इस दुःषम कालका जीवन ही दुःखमय है।

टिप्पणी—संसार के जब सभी प्राणि दुःखों के चक्रमें पड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं, कोई भी सुखी नहीं है तो फिर मैं ही क्यों संयम के समान उत्तम वस्तुको छोड़कर गृहस्थाश्रममें जाऊं? वहां जाने पर भी मुझे सुख कैसे मिल सकेगा? जब सभी गृहस्थ अनेकानेक दुःखों से पीड़ित है तो मैं ही अकेला सुखी कैसे रह सकुंगा? इसलिये संयम छोड़ना मुझे उचित नहीं है ।

[२] फिर हे आत्मन्! गृहस्थाश्रमियों के कामभोग क्षणिक तथा अत्यंत नीची कोटि के हैं।

टिप्पणी—गार्हस्थिक विषयभोग एक तो क्षणिक है, दूसरे वे कल्पित है, वास्तविक नहीं है; तीसरे उनका परिणाम अत्यंत दुःख रूप है, चौथे

कर्माधीन हैं, आत्मा के आधीन नहीं है तो ऐसे कामभोगों पर मुझे मोह क्यों करना चाहिये ?

[३] इस सांसारिक माया में फंसे हुए मनुष्य बड़े ही मायाचारी होते हैं।

टिप्पणी–इस संसार में मायाचार ही भरा पड़ा है इसीलिये तो सब प्राणी दुःखी है। यदि मैं भी संसार में जा पड़ूंगा तो मुझे भी मायाचार द्वारा दुःखी ही होना पड़ेगा।

[४] और संयमी जीवन में दीखनेवाला यह दुःख कुछ बहुत दिनों तक थोड़े ही रहनेवाला हैं ! (थोड़े समय का है, थोड़े समय बाद यह न रहेगा)

[५] संयम छोड़कर गृहस्थाश्रम में जानेवालों को नीच से नीच मनुष्यों की खुशामद करनी पड़ती है।

[६] गृहस्थाश्रम स्वीकारने से जिन वस्तुओं का मैंने एक वार वमन (उल्टी) कर दिया था उन्हीं को पुनः सेवन करना पड़ेगा।

टिप्पणी–संसारमें कोई भी मनुष्य थूकी हुई वस्तुको चाटना नहीं चाहता। विषय भोगों का एक वार में त्याग कर चुका, अब उन्हें पुनः स्वीकार करना मेरे लिये उचित नहीं है।

[७] हे आत्मन् ! त्यागकी उच्च भूमिका परसे, केवल एक क्षुद्र वासना के कारण गृहस्थाश्रम स्वीकारना साक्षात् नरक में जाने की तैयारी करने के समान है।

[८] गृहस्थाश्रम में रहनेवालों को जब गृहस्थाश्रम धर्म पालना भी कठिन होता है। तो आदर्श त्याग का पालन तो वे कैसे कर सकते हैं ?

टिप्पणी—यद्यपि गृहस्थाश्रममें भी बहुत से उत्तम संयमी पुरुष होते हैं परन्तु वे बहुत कम—इक्के दुक्के ही होते हैं क्योंकि गृहस्थाश्रमका तमाम वातावरण ही ऐसा कलुषित होता है कि उसमें संयम की आराधना कर लेना कठिन बात है।

[९] हे आत्मन्! फिर यह शरीर भी तो नश्वर है। इसमें अचानक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और मृत्यु आजाती है (उस समय धर्म के सिवाय और कोई भी पदार्थ इस जीवका सहायक नहीं होता)

[१०] और (गृहस्थाश्रममें) अशुभ संकल्प विकल्प आत्माका आध्यात्मिक मृत्यु करते रहते हैं।

टिप्पणी—गृहस्थाश्रम में फँसे हुए जीवका एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जिसमें वह संकल्पविकल्पों से मुक्त हो। रात को सोते २ भी वह हवाई किले बांधता बिगाड़ता रहता है। इन से वह दिन प्रतिदिन आध्यात्मिक मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। आत्मा की दृष्टिसे एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जाना मृत्यु नहीं है क्योंकि आत्मा तो अमर है। शरीर छूट जाने से आत्मा नहीं मर जाती किन्तु आत्मा अपने स्वरूप के विरुद्ध विषयभोगों में आसक्त होने से अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है, यही इसकी आध्यात्मिक मृत्यु है। आत्मा के लिये यह मृत्यु उस मृत्यु की अपेक्षा अधिक भयंकर एवं असह्य है।

[११] हे आत्मन्! गृहस्थाश्रम क्लेशमय है; सच्ची शांति तो त्याग ही में है।

[१२] गृहस्थावास बड़ा भारी बंधन है; सच्ची मुक्ति तो त्याग में ही है।

[१३] गृहस्थजीवन दोषमय है, और संयमी जीवन निष्पाप, निष्कलंक एवं पवित्र है।

[१४] गृहस्थों के कामभोग निकृष्ट (अत्यन्त निम्नकोटिके) हैं।

[१५] और हे आत्मन्! संसार के यावन्मात्र प्राणि पुण्य एवं पाप से घिरे हुए हैं।

[१६] और यह जीवन देखो, कितना क्षण भंगुर है! दर्भकी नोंक पर स्थित ओस के जलबिंदु के समान यह जीवन अति चंचल एवं क्षणिक है।

टिप्पणी–ऐसे विनश्वर जीवन के लिये अविनश्वर धर्म को क्यों छोड़ देना चाहिये।

[१७] अरे रे! सचमुच ही मैंने पूर्वकालमें बहुत पाप किया होगा!

टिप्पणी–यदि पापका उदय न होता तो संयम जैसी पवित्र वस्तु से मुझे विरक्ति क्यों होती? पापकर्म ही उस शुभवस्तु का संयोग नहीं रहने देते।

[१८] और गृहस्थ होकर तो मैं और भी दुश्चारित्र्यजन्य पापकर्मों से घिर जाऊंगा, फिर उनसे मुक्ति कभी मिलेगी ही नहीं। इन दुःसह्य पूर्वकर्मों को समभाव से सहलेने और तपश्चर्या द्वारा ही खपाया जा सकता है (और यह मौका मुझे संयमी अवस्थामें ही प्राप्य है, अन्यत्र नहीं)

टिप्पणी–इन १८ उपदेशों पर पुनः २ विचार और गहरा मनन करने से संयम से विरक्त मन पुनः संयम की तरफ आकृष्ट होगा और वह उसमें स्थिर हो जायगा।

अब श्लोक कहते हैं

[१] जब कोई अनार्य पुरुष केवल भोग की इच्छा से अपने चिर संचित चारित्र धर्म को छोड़ देता है तब वह भोगासक्त अज्ञानी अपने भविष्य का जरा भी विचार नहीं करता।

टिप्पणी—जब कोई भी साधारण अथवा बुद्धिमान साधक कोई अयोग्य काम कर बैठता है तब वह इतने अधिक आवेशमें होता है कि उस समय उसे यह नहीं दीखता कि इस कुकर्मका कैसा भयंकर परिणाम होगा।

[२] परन्तु जब वह त्यागाश्रम छोडकर गृहस्थाश्रममें पीछे लौटे आता है तब वह त्याग एवं गृहस्थ दोनों धर्म से भ्रष्ट होकर, स्वर्ग से च्युत पृथ्वी पर पडे हुए देवेन्द्र की तरह पश्चात्ताप करता है।

टिप्पणी—देवेन्द्रकी उपमा इसलिये दी है कि कहां वे स्वर्गीय सुख और कहाँ मर्त्यलोक के दुःख! इसी तरह कहां वह संयमी जीवन का लोकोत्तर आनंद और कहां पतित जीवन के कष्ट! संयमभ्रष्ट पुरुष की लोकमें भी निंदा होती है और उसके हृदयमें भी इसका दुःख हुआ करता है।

[३] प्रथम (संयमी अवस्थामें) तो वह विश्ववंदनीय होता है और भ्रष्ट होने के बाद अवंद्य (तिरस्कार के योग्य) हो जाता है तब वह अपनेमनमें स्वर्ग से पतित अप्सरा की तरह खूब ही पछताता है।

[४] पहिले तो वह महापुरुषों द्वारा भी पूज्य था और जब वही बादमें अपूज्य हो जाता है तब राज्य से पदभ्रष्ट राजा की तरह खूब ही पश्चात्ताप करता है।

[५] पहिले वह सबका मान्य होता है किन्तु भ्रष्ट होनेके बाद वह अमान्य होजाता है तब अनिच्छापूर्वक निर्धनकृपक बने हुए धनिक सेठ की तरह वह खूब ही पश्चात्ताप करता है।

टिप्पणी—पतित होकर नीच कुल में गये हुए अथवा धनहीन होकर नीच अवस्था को प्राप्त धनिक सेठ जिसतरह अपनी पूर्ववर्ती उच्चदशाको याद कर २ के दुःखी होता है उस तरह मुनिवेश छोड कर गृहस्थजीवन में गया हुआ साधक पश्चात्ताप करता है।

[६] भोगकी लालचसे त्यागाश्रमको छोडकर गृहस्थाश्रममें गया हुआ साधक यौवन व्यतीत कर जब जराग्रस्त होता है तब लोह के कांटे में लगे मांसको खाने की लालचमें फँसी हुई मछली की तरह अत्यंत कष्टको प्राप्त होता है ।

[७] और जब वह चारोंतरफसे पीडाकारी कौटुंबिक चिन्ताओं से घिरता है-पीडित होता है तब वह बन्धनोंमें फँसे हुए हाथी की तरह दुःखी होता है ।

[८] और त्यागाश्रमको छोडकर गृहस्थाश्रममें गया हुआ मुनि जब स्त्री, पुत्र, तथा कच्चे बच्चों के परिवार से घिरकर मोह परं-परामें फँस जाता है तब वह दलदल में फँसे हुए हाथी की तरह 'न नीरम् नो तीरम्' न पानी और न किनारा इन दोनों के बीचकी स्थितिमें पडा हुआ खेद किया करता है ।

टिप्पणी—स्त्री, पुत्रादि परिवारमें से निवृत्त होकर शांति प्राप्त करने की उसे जरा सी भी फुरसद नहीं मिलती तब उस जालमें से छुटने के लिये व्यर्थ ही इधर उधर हाथपेर फेंका करता है किंतु बंधन इतने गाढ एवं मज-बूत होते हैं कि इच्छा करनेपर भी वह उनसे छुट नहीं सकता और इस कारण वह और भी दुगुना दुःखी होता है ।

[९+१०] (फिर इस स्थितिमें जब वह विचार करने बैठता है तब उसे सद्विचार सूझते हैं और बडाही पश्चात्ताप होता है कि हा ! मैंने यह बहुतही बुरा किया) यदि मैं जिनेश्वरों द्वारा प्ररूपित विशुद्ध साधुतापूर्ण त्यागमार्ग पर आनंद पूर्वक रहा होता तो आज अपने अपूर्व आत्मतेज एवं अपूर्व ज्ञान का धारक होकर समस्त साधुगण का स्वामी बन जाता । इन महर्षियों के त्यागमार्ग में अनुरक्त त्यागी पुरुषों का देव-लोक के समान सुखद त्याग कहां और त्यागमार्ग से भ्रष्ट

हुए मुक्त पतित भिक्षुका महानरकयातना सदृश गृहस्थाश्रम कहां !

टिप्पणी–पतित हुए का जीवन इतना पामर हो जाता है कि वह गृहस्थाश्रम के आदर्शधर्म को आराधने योग्य नहीं रहता और उसके हृदयमें साधु जीवन की शांति सदैव याद आया करती है जिससे उसका गृहस्थाश्रम नरकवास जैसा कष्टकर होजाता है।

[११] (यहीपुरुष अब संयम से विरक्त साधुको समझाते हैं) त्याग मार्ग में संलग्न महापुरुषों का देवेन्द्र के समान उत्तम सुख और त्यागमार्ग से भ्रष्ट हुए पतित साधुका अत्यन्त नारकीय दुःखीजीवन, इन दोनों की तुलना करके पंडित साधुको त्याग मार्गमें ही आनंद पूर्वक रहना उचित है।

टिप्पणी–त्याग द्वारा प्राप्त आध्यात्मिक सुख वस्तुतः अनुपम है उसकी तुलना तो स्वर्गीय सुखके साथभी नहीं की जा सकती। किन्तु यहां प्रसंग-वश जैसे मनुष्य जीवन की अपेक्षा देवजीवन उत्कृष्ट हो उसीतरह गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा त्यागीजीवन उत्कृष्ट है और जिसतरह मानवजीवन की अपेक्षा नरकजीवन निकृष्ट है उसीतरह आदर्श जीवन की अपेक्षा पतित गृह-जीवन निःकृष्ट है इतना बताने के लिये ही उपर की उपमा दी गई है।

[१२] धर्मसे भ्रष्ट तथा आध्यात्मिक संपत्तिसे पतित दुर्विदग्ध मुनिका; शांत बुझी हुई यज्ञाग्नि की तरह एवं विषके दांत टूटे हुए महा विषधर सर्प की तरह, दुराचारी भी अपमान करने लगते हैं।

टिप्पणी–सांपका विषका दांत टूट जानेपर बालक भी उसको सताने लगते हैं, यज्ञकी अग्नि यद्यपि पवित्र मानी जाती है फिर भी उसका तेज नष्ट हो जाने पर उसकी कुछ भी कीमत नहीं रहती, इस शरीरमें से आत्मा निकल जाने पर इस देह की कौडी जितनी भी कीमत नहीं रहती

उसी तरह संयमधर्मरूपी आत्मा के निकलजाने पर वह साधक निश्चेत जैसा होजाता है इसलिये उसकी हंसी मस्करी हीनचरित्र गृहस्थ भी करने लगते हैं।

[१३] धर्म से पतित, अधर्मसेवी और अपने व्रतनियमों से भ्रष्ट साधु की इस लोक में भी चारित्रकी क्षति; अधर्म, अपयश तथा नीचे मनुष्यों की निंदा आदि अनेक हानियां होती हैं और हीनजीवन के अंतमें उसे परलोकमें भी अधर्मके फल स्वरूप अधम योनि मिलती है।

[१४] जो कोई साधक बेदरकार (दुष्ट) चित्तके वेग के वश होकर भोगों को भोगनेके लिये तरह २ के असंयमों का आचरण कर ऐसी अकल्पनीय दुःखद योनिमें गमन करता है कि उस साधक को फिर दुबारा ऐसे उच्च सद्बोधकी प्राप्ति होना सुलभ नहीं होता।

[१५] क्लेश तथा अनन्त दुःख परंपरा में दुःखी होते हुए इन बिचारे नारकी जीवोंकी पल्योपम तथा सागरोपम लंबी आयुष्यों तक निरंतर मिलनेवाला अनन्त दुःख कहां और इस संयमी जीवन में कभी कभी आया हुआ थोडा आकस्मिक दुःख कहां? इन दोनों में तो महान अन्तर है तो फिर ऐसा उद्विग्न साधक ऐसा सोचे "अरे! मेरा यह क्षणिक मानसिक दुःख किस बिसात में है" और ऐसा सोचकर समभावपूर्वक उस कष्टको सह ले

टिप्पणी–पल्योपम, समय का एक बहुत बडा परिमाण है। सागरोपमका परिमाण तो उससे भी बहुत अधिक बडा है।

[१६] (दुःखके कारण संयम छोडने की इच्छा हो तो वह यों विचारे) मेरा यह दुःख बहुत समय तक नहीं टिकेगा। (यदि भोगकी इच्छासे संयम छोडने की इच्छा हो तो वह

यों विचारे) जीवात्मा की भोगपिपासा भी क्षणिक है; वह केवल थोड़े समय तक ही रहती है फिर भी यदि कदाचित् वह ऐसी बलवती हुई जो इस जीवन के अन्ततक भी तृप्त न होगी तो 'मेरी जिंदगी के अन्तमें तो वह जरूर ही चली जायगी' इत्यादि प्रकार के विचार कर २ के संयम के प्रति होनेवाले वैराग्य को साधक इस प्रकार रोके।

टिप्पणी—"प्राण जांय तो भले ही चले जांय परन्तु मेरा संयमी जीवन तो नहीं जाना चाहिये। इस जीवन के चले जाने के बाद पुराने के बदले नया जीवन मिल जायगा किंतु आध्यात्मिक मृत्यु होने के बाद उसकी पुनःप्राप्ति अशक्य है"—ऐसी भावना साधक सदैव चिन्तवन करता रहे।

[१७] जब ऐसे साधुकी आत्मा उपर्युक्त विचारों का मनन करते २ इतनी निश्चित हो जाय कि वह संयम त्यागकी अपेक्षा अपना शरीर त्याग करना अधिक पसंद करे तब वायु के प्रचंड झोंके जिस तरह सुमेरु पर्वत को नहीं हिला सकते उसी तरह इन्द्रियों के विषय उस सुदृढ साधक को डोलायमान कर सकेंगे।

[१८] ऊपर लिखी सब बातों को जानकर बुद्धिमान साधक उनमें से अपनी आत्मशक्ति तथा उसके योग्य भिन्न २ प्रकार के उपायों को विवेक-पूर्वक विचार कर तथा उनमें से (अपनी योग्यतानुसार) पालन करके मन, वचन और काया इन तीनों योगोंके यथार्थ संयम का पालनकर जिनेश्वर देवों के वचनों पर पूर्ण रीतिसे स्थिर रहे।

टिप्पणी—त्यागीका पतित जीवन दुधारी तलवार जैसा है जिसका घाव ऊपर नीचे दोनों ओर होता है। सीढ़ी पर चढा हुआ मनुष्य जमीन पर खड़े मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ऊंचा दिखाई देता हो किन्तु जब वह वहां

से गिरकर जमीन पर चित्त लेट जाता है तब वह खड़े मनुष्य की अपेक्षा अत्यन्त नीचा दिखाई देता है और साथहीसाथ वहां से गिरनेके कारण चोट खाता है सो अलग। ठीक यही हालत तपमार्गसे भ्रष्ट साधुकी होती है।

ऐसे कडुए भविष्य के न इच्छुक साधक को सद्विचार एवं मंथन के चूर्ण द्वारा अपने मन का मैल दूर करना चाहिये, पश्चात्ताप के साबुन से अंत:करण को इतना तो साफ कर देना चाहिये जिससे दुष्ट विचारोंका आवागमन ही न हो पावे।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'रतिवाक्य' नामक प्रथम चूलिका समाप्त हुई।

विविक्त चर्या

——(०)——

(एकांत चर्या)

१२

इस संसार के प्रवाह में अनंत कालसे परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा अनन्त संस्कारों को स्पर्श कर चुकी है और उन्हें भोग भी चुकी है फिर भी अभीतक वह अपने भाव में नहीं आई और न अपने स्वरूप से च्युत ही हुई है। अब भी उसके लक्षण वे के वेही बने हुए हैं । दूसरे तत्त्वों के साथ निरंतर मिले रहने पर भी अब भी वह एक ही है, अद्वितीय है । इस चेतना शक्ति का स्वामी ही वह एक आत्मा है, वही चैतन्यपुंज है और उसीकी शोध के पीछे पडजाना इसीका नाम है विविक्त चर्या—एकांत चर्या ।

विश्वका प्राणीसमूह जिसप्रवाह में बह रहा है उसप्रवाह में विवेक बिना बहते जाना यह भी एकांत चर्या है । इसप्रकार के बहते जाने में विज्ञान, बुद्धि, हार्दिक शक्ति, अथवा जागृति की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है । अंधे भी उस प्रवाह में आसानी से बहते जा सकते हैं; हृदयहीन मनुष्य भी उसके सहारे अपना बेडा हांक सकते हैं । सारांश यह है कि एक क्षुद्र जंतु से लेकर मानवजीवन की उच्चतर भूमिका तक की सभी श्रेणियों के जीवों की सामान्य रूपमें

यही प्रवाह गति दिखाई देती है। जन्मसे लेकर मृत्युतक की सभी अवस्थाओं-सभी कार्योंमें भी यही बात देखी जा सकती है।

किन्तु मानवसमाज में ही एक ऐसा विलक्षण वर्ग होता है जो बुद्धि पर पडे हुए आवरणों को दूर कर देता है। जिसके अन्तर्चक्षु उघड जाते हैं, जिसके प्राणों में चेतनाशक्तिकी सनसनाहट फैल गई है और वह अपने कष्टप्रद भविष्यको स्पष्ट देखसकता है और इसीलिये वह अपने वीर्य का उपयोग उसप्रवाह में बहते जाने के बदले अपनी जीवननौका की दिशा बदलने में करता है। वह अपना ध्येय निश्चित करता है। और वहां पहुँचने में आनेवाले सैकडों संकटों को दूर करने के लिये शस्त्रसज्जित शूरवीर और धीर लडवैये का बाना धारण करता है। संसार के दूसरे शूरवीर अपनी शक्ति माया संपत्ति के रक्षण के लिये बाह्य संग्रामों में खर्च करते हैं किन्तु यह योद्धा उस वस्तुकी उपेक्षाकर आत्मसंग्राम करनाही विशेष पसंद करता है। यही उसकी दूसरों से भिन्नता है। यह भिन्नचर्या ही उसकी विविक्त चर्या है।

गुरुदेव बोले :—

(एकांत चर्या अर्थात् विश्वके सामान्य प्रवाह से अपनी आत्मा को बचा लेना। उस चर्या के लाभ तथा उद्देश्यों का निदर्शन इस अध्ययन में किया है)

[१] सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्ररूपित तथा गुरुमुखसे सुनी हुई इस (दूसरी) चूलिका को मैं तुमसे कहता हूं जिस चूलिका को सुनकर सद्गुणी सज्जन पुरुषों की बुद्धि शीघ्रही धर्म की तरफ आकृष्ट हो जाती है।

इस प्रकार सुधर्म स्वामीने जम्बू स्वामीको लक्ष्य करके कहा था वही उपदेश शय्यंभव गुरु अपने मनक नामके शिष्यको कहते हैं।

[२] (नदी के प्रवाह में तैरते हुए काष्ठ की तरह) संसार के प्रवाह में अनंत प्राणी बह रहे हैं। उस प्रवाह से छूट जाने के इच्छुक मोक्षार्थी साधक को संसारी जीवों के प्रवाह से उल्टी दिशामें (प्रवृत्ति) में अपनी आत्मा को लगानी चाहिये।

टिप्पणी–मनुष्य जीवन, योग्य समय तथा साधन मिलने पर भी बहुत से मनुष्यों को भौतिक जीवन के सिवाय अन्य किसी जीवन का रंचमात्र भी ख्याल नहीं होता । वे केवल लकीर के फकीर बने रहते हैं और उनका जीवन क्रम, जैसा होता आया है उसी ढर्रे पर चलता जाता है । उनमेंसे यदि कोई श्रेयार्थी जागृत होता है तो वह लोक प्रवाह में न डूबकर प्रत्येक क्रियामें विवेक करने लगता है और वह अपने लिये एक नया ही मार्ग बनाता है ।

[३] जगत के बिचारे पामर जीव सुखकी तलाशमें संसार के प्रवाह में बहते जारहे हैं वहां विचक्षण साधुओं की मन, वचन और काया की एकवाक्यता (शुभ व्यापार) ही उस प्रवाह के विरुद्ध जाती है । सारांश यह है कि श्रेयार्थी को अपना मार्ग अन्य जीवों की अपेक्षा अलग ही बनाना चाहिये।

टिप्पणी–सामान्य प्रवाह के विरुद्ध अपना मार्ग नियत करते समय साधक को बडी सावचेती रखनी चाहिये । उसको अपना जुदा मार्ग बनाते देखकर इतर मनुष्यों की कडी नजर उसपर पडती है इसीलिये कहा है कि 'हरिप्राप्ति का मार्ग किसी विरले शूरवीर का ही है, उस मार्ग पर कायर नहीं चल सकते'। किन्तु सच्चे साधक का आत्मबल उन कोपदृष्टियों से उसे बचा लेता है और वह अपने मार्ग पर निष्कंटक चल निकलता है ।

[४] सच्चे सुखके इच्छुक साधक को लोक प्रवाह के विरुद्ध जाने में कौन सा बल बढाना चाहिये उसका निर्देश करते हैं) एकतो प्रथम उस साधक को सदाचार में अपना मन लगाना चाहिये

और उसके द्वारा संयम एवं चित्त समाधि की आराधना करनी चाहिये और बादमें त्यागी पुरुषों की जो चर्या, गुण, एवं नियम हैं उनको जानकर तदनुसार आचरण करना चाहिये।

टिप्पणी–संयमी जीवन बिताने का नाम 'चर्या' है। मूलगुण तथा उत्तर गुणों की सिद्धि को 'गुण' कहा है और नियम शब्द से भिक्षादि के नियमों की तरफ इशारा किया है। इन सबके स्वरूप को जानकर उनको आचार परिणत करने के लिये साधक को तैयार होना चाहिये।

विशेष स्पष्टीकरण

[५] (१) अनियतवास (किसी भी नियत गृह अथवा स्थान को स्थायी निवास स्थान न बनाकर पृथ्वीमें सर्वत्र विचरना), (२) समुदान चर्या (जुदे २ घरों से भिक्षा प्राप्त करना), (३) अज्ञातोञ्छ (अपरिचित गृहस्थों के घरों मेंसे बहुत थोडी २ भिक्षा लेना), (४) एकांत का स्थान (जहां संयम की बाधक कोई वस्तु न हो), (५) अतिरिक्तताः–जीवन की आवश्यकतानुसार अल्पातिअल्प साधन रखना और (६) कलह का त्याग–इन छ प्रकारों से युक्त विहार चर्या की महर्षियोंने प्रशंसा की है। सुज्ञ भिक्षु इनका पालन करे।

[६] जिस स्थान पर मनुष्यों का कोलाहल होता हो अथवा साधु-जनों का अपमान होता हो। उस स्थानको साधु छोड देवे। कोई गृहस्थ दूसरे घरमेंसे लाकर यदि साधुको आहार पानी दे तो उसको साधु ग्रहण न करे। वह वही भोजन ग्रहण करे जिसे उसने अच्छी तरह देखलिया हो। दाता जिस हाथ अथवा चमचेसे भोजन लाया हो उस भोजन को ग्रहण करने में साधु उपयोग (ध्यान) रक्खे।

टिप्पणी–यहां अन्न लगे हुए चमचे का निर्देश इसलिये किया है कि गृहस्थ उस साधन को सजीव पानी से न धो डाले। यदि वह उसे साफ करेगा तो उसको कष्ट पहुंचेगा जिसका निमित्त वह साधु होगा। दूसरे; सचित्त पानी से धुले हुए चमचे से ही हुई भिक्षा उसके लिये ग्राह्य भी नहीं रहेगी।

दाता आहार पानी जहां से लावे उसको देखने से तात्पर्य यह है कि साधु यह देखे कि दाता कहीं स्वतः के लिये आवश्यक वस्तु का दान तो नहीं कर रहा! दूसरे, आहार शुद्ध है किंवा नहीं, इसका भी इससे पता चल सकेगा।

[७] मद्यमांसादि अभक्ष्यका सर्वथा त्यागी आदर्श भिक्षु निरभिमानी, अपनी आत्मा पर पूर्ण काबू रखने के लिये बलिष्ठ भोजन ग्रहण न करे पुनः २ कायोत्सर्ग (देहभान भूल जाने की क्रिया) करे और स्वाध्यायमें दत्तचित्त रहे।

[८] भिक्षु, शयन, आसन, शय्या, निषद्या (स्वाध्यायके स्थान) तथा आहारपानी आदि पर ममत्व रखकर, मैं जब यहां लौटकर आऊंगा तब ये वस्तुएं मुझे ही देना–किसी दूसरे को मत देना-इत्यादि प्रकार की प्रतिज्ञा गृहस्थों से न करावे और न वह किसी गाम, कुल, नगर अथवा देश पर ममत्वभाव ही रक्खे।

टिप्पणी–ममत्व भाव रखना साधुजीवन के लिये सर्वथा त्याज्य है क्योंकि एक वस्तु पर ममत्व होने से अन्य वस्तु पर से विशुद्ध प्रेम उड जाता है और उससे विरुद्ध स्वभावकी वस्तुओं पर द्वेष हो जाता है। इस तरह एक ममत्व भाव रागद्वेष दोनों का ही कारण है। इन दोनों का बुरा परिणाम आत्मा पर जरूर पडता है और उसके परिणाम कलुषित हुए बिना न रहेंगे इससे साधक की साधना में बडा भारी विक्षेप खडा होगा कहना तो चाहिये कि मुनिका सारा आचार ही भय में आ पडेगा क्योंकि साधुका

आचार रागद्वेषके नाश पर ही तो अवलंबित है। ऐसे साधक के लिये ममता का सर्वथा त्याग करना ही उचित है।

[६] आदर्श मुनि असंयमी जनों की चाकरी न करे; उनको अभिवादन (भेंटना), वंदन अथवा नमस्कार आदि न करे किन्तु असंयमियों के संगसे सर्वथा रहित आदर्श साधुओं के संग में ही रहे। इस संसर्ग से उसके चारित्रकी हानि न होगी।

टिप्पणी–मनुष्य का कुछ स्वभाव ही ऐसा है कि जिसके साथ अति परिचय में वह आता है उसकी गुलामी करने लग जाता है, जिसकी वह पूजा करता है वैसे ही उसका मन तथा विचार होते जाते हैं। और अन्तमें वह वैसाही हो जाता है क्योंकि संसर्गजन्य आंदोलनों का उस पर व्यक्त किंवा अव्यक्त कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता ही है। इसलिये शास्त्रों में साधु-संग की महिमा के पुल बांध दिये गये हैं और खल-संगति की भरपेट निंदा की है। संयम के इच्छुक साधक को अपने से अधिक गुणवान की संगति करना ही योग्य है।

[१०] (यदि उत्तम संग न मिले तो क्या करे?) भिक्षु को यदि अपने से अधिक अथवा समान गुणवान साथी न मिले तो सांसारिक विषयों से अनासक्त रहकर तथा पापों का त्यागकर सावधानी के साथ एकाकी विचरे (किन्तु चारित्रहीन का संग तो न करे)

टिप्पणी–यद्यपि जैनशास्त्रों में एकचर्या को त्याज्य कहा है क्योंकि एकाकी विचरने वाले साधुको निष्कलंक चारित्र पालना असंभव जैसी कठिन बात है और यदि उसके ऊपर कोई अग्र (आचार्य) आदि न हो तो ऐसा साधक समाज की दृष्टि से भी गिर जाता है। इसी तरह के और भी अनेक दोष एकाकी विचरने से संभव हैं फिर भी जिस संग से संयमी जीवनमें विघ्न आने की संभावना हो उसकी अपेक्षा एकाकी विचरना उत्तम

है क्योंकि एकाकी विचरनेमें तो भविष्यमें दोष लगने की संभावना है किन्तु दुराचारी के संग से तो तत्क्षण ही दोष लगता है। जैन दर्शन अनेकांत दर्शन है। उसमें कथित वस्तुएं एकांत रूप से नहीं कही जाती। इसीतरह एकांत चर्या न तो नितांत खराब ही है और न नितांत उत्तम ही। वह जैसी जिस दृष्टि से है उसका वर्णन ऊपर किया ही है। किंतु आधुनिक साधु-जगत में जो एकांत चर्या दिखाई दे रही है वह वैराग्य से नहीं किन्तु स्वच्छंदवृत्तिजन्य मालुम होती है। और जहां स्वच्छंदता है वहां साधुता का नाश ही है। इसलिये आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए एकचर्या का प्रश्न बडाही चिन्तनीय एवं विवादग्रस्तसा होगया है। स्वच्छंद को वढाने की दृष्टिसे एकचर्या त्याज्य है किन्तु उसमें भी कोई अपवादरूप एकचर्या हो सकती है और भी वह आत्मसाधनाके लिये की गई हुई हो तो अति प्रशंसनीय भी है। सारांश यह है कि एकचर्या की इष्टता अथवा अनिष्टता का माप उसके संयोगबलों एवं उसकी परिस्थितियों के ऊपर निर्भर है।

[११] (चातुर्मास्य में) जैनभिक्षुको एक स्थानमें अधिक से अधिक चार महीनों तक और अन्य ऋतुओं में एक मास तक ठहरने की आज्ञा है और जहां एक वार चौमासा किया हो वहां दो वर्षों का व्यवधान (अन्तराल) डालकर तीसरे वर्ष चौमासा किया जा सकता है और जहाँ एकमास तक निवास किया हो उससे दुगुना समय अन्य स्थलमें व्यतीत करने के बादही वहां फिर एक मास तक रहा जासकता है। जैनशास्त्रों की ऐसी आज्ञा है और संयमी साधु शास्त्रोक्त विधिके अनुसार ही चले।

टिप्पणी—शारीरिक व्याधि अथवा ऐसेही अन्य किसी अनिवार्य कारण से इस प्रमाण (अवधि) में थोडा बहुत अपवाद भी हो सकता है। एक स्थानमें अधिक समय तक रहने से आसक्ति किंवा रागबंधन हो जाता है और ये दोनों बातें संयम के लिये घातक हैं। इसलिये संयमकी रक्षा के लिये ही यह आज्ञा दी गई है यह ध्यानमें रखना चाहिये।

एक मास तक अथवा चौमासा भर जिस स्थानमें साधु रहा हो उस से दुगुना समय दूसरे स्थानों में व्यतीत करने के बाद ही उतनी अवधि के लिये फिर उस स्थानमें ठहर सकता है–ऐसी सूत्र की आज्ञा है (देखो आचारांग सूत्र)

[१२] और भिक्षु रात्रिके प्रथम अथवा अंतिम प्रहर में अपनी आत्मा की अपने ही द्वारा आलोचना (निरीक्षण) करे कि आज मैंने क्या २ काम किये ? क्या २ करना मुझे अभी बाकी है ? मैंने शक्य होने पर भी किसबातका पालन नहीं किया ? दूसरे लोग मुझे कैसा मानते हैं (उच्च या नीच) ? मेरी आत्मा दोषपात्र तो नहीं है ? मैं अपनी किन २ भूलों को अभी तक नहीं छोड सका ? इत्यादि खूब ही संभालपूर्वक (सूक्ष्म दोष को भी छोडे बिना) विचारकर भविष्यमें पुनः संयम में वैसे दोष न लगाने का प्रयत्न करे।

[१३] धैर्यवान् भिक्षु कदाचित् भूलसे भी किसी कार्य में मन, वचन और काय संबंधी दोष कर बैठे तो उसी समय, लगाम खींचते ही जैसे उत्तम घोडा सुमार्ग पर आजाता है वैसे ही अपने मनको वशमें रखकर सुमार्ग पर लगावे ।

[१४] धैर्यवान एवं जितेन्द्रिय जो साधु सदैव उपर्युक्त प्रकार का अपना आचरण रखते हैं उसी को ज्ञानिजन नरपुंगव (मनुष्योंमें श्रेष्ठ) कहते हैं और वही वस्तुतः सच्चे संयम पूर्वक जीवन बिताता है।

टिप्पणी–थोडे समय के लिये संयम निभा लेना आसान बात है। जहां तक कठिनता, आपत्ति या व्याकुलता नहीं होती तबतक अपनी वृत्ति को सुरक्षित रखना सरल है किंतु संकटों की अपार झडी बरसने पर भी अपने मन, वचन और कायको अखण्ड बनाये रखना बडी ही कठिन बात है।

मन, वचन और काय की एकवाक्यता संयमी जीवन का एक आवश्यक अंग है।

[१६] सच्चे समाधिवंत पुरुषों को इन्द्रियों सहित इस आत्मा को असन्मार्ग (कुमार्ग) में जानेसे रोक लेना चाहिये क्योंकि यदि आत्मा अरक्षित (अवश) हो जायगी तो जन्म जरा-मरणरूपी संसार में उसे घूमना पड़ेगा और यदि वशमें होगी तो वह सब दुःखों से छूट कर मुक्ति प्राप्त कर सकेगी।

टिप्पणी—शासन के नियमों के आधीन न रहकर अकेले विचरण करने अथवा गुरुकुलवास छोड़कर एकाकी फिरने को विविक्तचर्या नहीं कहते और न यह एकचर्याही है। यह तो केवल अनेकांतचर्या ही है।

जिस एकचर्या में वृत्ति की पराधीनता एवं स्वच्छन्द का अतिरेक हो वैसी एकचर्या से त्यागका विकास होने के बदले दुराचार ही की वृद्धि होने की संभावना है।

आत्मा द्वारा आत्मा के पापों का प्रक्षालन, अपनी ही शक्ति से विपत्तियों का विदारण और अपने को अपनाही अवलंबन बनाकर एकांत आत्म-रमन करना ही आदर्श एकांत चर्या है।

आत्मरक्षा का प्रबल उपासक यह वीरसाधक ऐसी एकांत चर्या का वास्तविक रहस्य समझकर इन्द्रियों की चपलता और मन के दुष्टवेगके आधीन न होकर अपना केवल एक ही लक्ष्य रखता है और वीतराग भावकी पराकाष्ठा को प्राप्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है और यही संयम तथा त्याग का फल है।

ऐसा मैं कहता हूं:—

इस प्रकार 'विविक्त चर्या' नामक दूसरी चूलिका समाप्त हुई।